गैर्वाणीगौरवग्रन्थमाला

गीर्वाणवाणीगौरवभूतप्रत्ननूतनलघुग्रन्थानां सङ्कलनम्

गङ्गानाथझाकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठशोधपत्रिकायाः
परिशिष्टम्

काश्मीरदेशीयकविभल्लटप्रणीतम्

भल्लटशतकम्

(सरसहिन्दीभाषाव्याख्यया भूमिकया च संवलितम्)

व्याख्याकारः

(स्व०) पं० रामचन्द्र मालवीय

एम० ए०, एल० टी०, साहित्याचार्य, व्याकरणाचार्य

भूतपूर्व-प्रस्तोता, काशीस्थ-वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य

सम्पादिका

डा० माया मालवीय



गैर्वाणीगौरवग्रन्थमाला

गीर्वाणवाणीगौरवभूतप्रत्नूतनलघुग्रन्थानां सङ्कलनम्

गङ्गानाथझाकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठशोधपत्रिकायाः परिशिष्टम्

काश्मीरदेशीयकविभल्लटप्रणीतम्

भल्लटशतकम्

(सरसहिन्दीभाषाव्याख्यया भूमिकया च संवलितम्)

व्याख्याकारः

(स्व०) पं० रामचन्द्र मालवीयः

एम० ए०, एल० टी०, साहित्याचार्य, व्याकरणाचार्य

भूतपूर्व-प्रस्तोता, काशीस्थ-वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य

सम्पादिका

डा० माया मालवीय



गैर्वाणीगौरवग्रन्थमाला

नवमम् सुमम्

सम्पादकौ

गयाचरण त्रिपाठी

माया मालवीय

॥ श्रीः ॥

॥ भल्लटशतकम् ॥

(काश्मीरदेशीयकविभल्लटप्रणीतम्)

❀

व्याख्याकारः

(स्व०) पं० रामचन्द्र मालवीयः

भूतपूर्व प्रस्तोता

काशीस्थ-वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य

सम्पादिका

डा० माया मालवीय

❀

श्रीगङ्गानाथझाकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठम्

चन्द्रशेखर आजाद पार्क

प्रयागः

१९९३

प्रकाशकः

डॉ० गयाचरण त्रिपाठी

प्राचार्यः

गङ्गानाथझाकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठम्

चन्द्रशेखर आज़ाद पार्क

इलाहाबाद-२

●

मूल्यम्

●

मुद्रकः

शाकुन्तल मुद्रणालयः

३४, बलरामपुर हाउस

इलाहाबाद-२

FOREWORD

The Century (*Śataka*) of verses on worldly Wisdom by *Bhallaṭa* (7th-8th C.), an accomplished poet of Kashmir, is one of the most favourite anthologies of Sanskrit literature. It is mostly composed in a special indirect style (अन्योक्ति) in which the poet expresses his opinion about the nature of human beings and human society by associating his remarks with non-human living beings or with the objects of inanimate world. The verses of Bhallaṭa have profusely been quoted in ancient Sanskrit literature (as well as in the works of such critics as Ānandavardhana) and even today they adorn the mouths of Sanskrit Scholars which is an unambiguous proof of their popularity.

Late Shri Ram Chandra Malaviya, an unassuming but erudite Sanskrit scholar and the former Registrar of the Sanskrit University, Varanasi has translated these verses into simple and lucid Hindi. Such a Hindi translation was a great *desideratum*, in view of the difficult language and indirect mode of expression of Bhallaṭa involving subtle shades of meaning and a high degree of suggestivity.

We hope that the scholars shall like this translation and the publication would give satisfaction to the departed soul of Pandit R.C. Malaviya.

Editors

Gaya C. Tripathi

Maya Malaviya

FOREWORD

The Century (*śataka*) of verses on worldly Wisdom by *Bhallaṭa* (7th-8th C.), an accomplished poet of Kashmir is one of the most favourite anthologies of Sanskrit literature. It is mostly composed in a special indirect style (अन्योक्ति) in which the poet expresses his opinion about the nature of human beings and human society by associating his remarks with non-human living beings or with the objects of inanimate world. The verses of Bhallaṭa have profusely been quoted in ancient Sanskrit literature (as well as in the works of such critics as Ānandavardhana) and even today they adorn the mouths of Sanskrit Scholars which is an unambiguous proof of their popularity.

Late Shri Ram Chandra Malaviya, an unassuming but erudite Sanskrit scholar and the former Registrar of the Sanskrit University, Varanasi has translated these verses into simple and lucid Hindi. Such a Hindi translation was a great *desideratum*, in view of the difficult language and indirect mode of expression of Bhallaṭa involving subtle shades of meaning and a high degree of suggestivity.

We hope that the scholars shall like this translation and the publication would give satisfaction to the departed soul of Pandit R.C. Malaviya.

Editors

Gaya C. Tripathi

Maya Malaviya

पं० रामचन्द्र मालवीय : एक संक्षिप्त परिचय

पण्डित रामचन्द्र मालवीय जी का जन्म इलाहाबाद के मालवीय नगर में दशहरे के दिन सन् १९०७ में हुआ था।

आप बाल्यावस्था में ही माता-पिता की छत्रच्छाया से वंचित हो गये थे। आर्थिक संकट से गुजरते हुये, संस्कृत और संस्कृति से प्रेम के कारण एम० ए०, एल० टी०, शास्त्री, आचार्य किया और अध्यापन की राजकीय वृत्ति से गृहस्थ धर्म का पालन स्वीकार किया। 'डेपुटेशन' पर टेक्स्ट बुक पदाधिकारी होकर लखनऊ आये। वहाँ से 'डेपुटेशन' पर ही १९५४ में वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में परीक्षाधिकारी रूप में नियुक्त हुये और बाद में प्रस्तोता होकर अवकाश प्राप्त किया। ८४ वर्ष की वय में ५ अप्रैल १९९२ को आपका निधन हो गया।

कक्षा ६, ७, ८ में इनकी **संस्कृत-सुधा** उत्तर-प्रदेश में कई वर्षों तक पाठ्यक्रम में रही। "संस्कृत के विद्वान् और पंडित" कृति बहुत चर्चित और प्रशस्य रही। पं० बलदेव उपाध्याय जी ने भी इसकी प्रशंसा करते हुये आपसे इसी का परिवर्द्धित और बृहत् संस्करण निकालने का आग्रह किया, पर कुछ दुर्निवार्य कारणों से यह कार्य सम्भव न हो सका। वर्षों बाद अपना "काशी की सारस्वत साधना" नामक ग्रन्थ पण्डित जी को भेंट करते समय पं० बलदेव उपाध्याय जी ने कहा—देखिये मालवीय जी, मैंने आपको कितनी बार कहा था कि ऐसा ग्रन्थ लिखिये। आप नहीं कर सके तो मैंने ही कर दिया"।

आपकी वल्लभदेव कृत "सुभाषितावलि" का हिन्दी अनुवाद (१९७४) उत्तर-प्रदेश संस्कृत अकादमी द्वारा पुरस्कृत रचना है। इसके अतिरिक्त **कथासरित्सागर** एवं सोमदेवसूरि विरचित **नीतिवाक्यामृतम्** (चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९७२) का हिन्दी अनुवाद आदि आपकी प्रशंसित रचनायें हैं।

विद्वान् लेखक का यह अनुवाद सन् १९७५ की कृति है। दुर्भाग्य वश आर्थिक कारणों से प्रकाशित नहीं हो सका था। गत वर्ष पं० जी के निधन के पश्चात्, दैवी प्रेरणा से माँ सरस्वती के चरणों में समर्पित उनका यह श्रद्धा-सुमन उन्हीं की स्मृति रूप में प्रकाश में लाया जा रहा है। मृत्यु के

लगभग एक वर्ष पूर्व उन्होंने यह रचना मेरे पास यह कह कर भिजवाई थी कि "अपने प्राचार्य जी से कहो कि परामर्श दें कि कैसे और कहाँ से इसका प्रकाशन करायें" ?

प्राचार्य, डॉ० त्रिपाठी जी, ग्रन्थ को देख कर बहुत प्रसन्न हुए एवं उन्होंने इसे विद्यापीठ के माध्यम से स्वतः प्रकाशित करने की इच्छा व्यक्त की। उनका मत था कि "प्रकाशक वैसे भी समस्त आर्थिक लाभ स्वयं ही आत्मसात् कर लेते हैं, पर्याप्त प्रतियाँ तक लेखक को नहीं देते अतः अच्छा हो कि विद्यापीठ इसे प्रकाशित करे और पण्डित जी इसकी प्राप्य प्रतियाँ विद्वानों में अपने यश-लाभ के लिये वितरित कर दें"।

ऐसा ही हुआ भी, किन्तु दुःख है कि आज पण्डित जी अपनी इस प्रकाशित कृति को देखने के लिये इस संसार में नहीं हैं। तथापि आशा है कि संस्कृत के सहृदय विद्वानों में इस रचना के माध्यम से उनकी कीर्ति अक्षुण्ण रहेगी। अपने पूज्य पिता जी की इस कृति को सम्पादित करके उनके स्वर्गारोहण के पश्चात् विद्वानों के सम्मुख लाते हुए आज मुझे एक विशेष प्रकार के संतोष का अनुभव हो रहा है, साथ ही यह भी अनुभूति हो रही है कि उनका मुझे संस्कृत पढ़ाना यत्किञ्चित् सार्थक हो गया।

अभी भी उनकी कुछ रचनायें अप्रकाशित पड़ी हैं। रुग्णावस्था में भी कई योजनायें मस्तिष्क में घुमड़ती रहती थीं। ईश्वर की अनुकम्पा रही और परिस्थितियों ने साथ दिया तो उन्हें भी मैं प्रकाश में लाने का प्रयास करूँगी।

प्राचार्य डॉ० गयाचरण त्रिपाठी जी के प्रति मैं हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने इसे विद्यापीठ की गैर्वाणीगौरव ग्रन्थमाला में प्रकाशन हेतु स्वीकृत किया।

गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत
विद्यापीठ
प्रयाग–२

डा० माया मालवीय
प्रवाचक एवं अध्यक्ष
वेद विभाग

भूमिका

'राजतरङ्गिणी' के प्रारम्भ में कल्हण ने काश्मीर की प्रशस्ति में लिखा है कि वहाँ सरोवर के अन्तर्गत हंसरूपा सरस्वती के दर्शन होते हैं जिसके दर्शन मात्र से मनुष्य को प्रवाहमयी मधुमती वाणी सुलभ हो जाती है --

आलोक्य शारदां देवीं यत्र संप्राप्यते क्षणात् ।
तरङ्गिणी मधुमती वाणी च कविसेविता ।।

इन्हीं वरदा शारदा के सहज सम्मान में काश्मीर को शारदा देश भी कहा जाता है जैसा बिल्हण कवि ने 'विक्रमाङ्कदेवचरित' में लिखा है --

सहोदराः कुङ्कुम केसराणां
भवन्ति नूनं कविताविलासाः ।
न शारदादेशमपास्य दृष्ट-
स्तेषां यदन्यत्र मया प्ररोहः ।।

कवि बिल्हण की सम्मति में कविता-विलास और कुङ्कुम-केसर इन दोनों का सहोदर सम्बन्ध है जिस प्रकार केसर की क्यारियाँ काश्मीर की निजी विशेषता है उसी प्रकार कवि की मधुमती वाणी का भी केन्द्र काश्मीर अथवा शारदा देश ही है। यहाँ शारदा देश में श्लिष्ट अर्थ यह भी है कि शारदा के आदेश अथवा कृपा के बिना कविता का स्फुरण नहीं हो सकता।

कवि के सहज स्वदेश पक्षपात की ओर दृष्टिपात न करने पर भी मम्मट-आनन्दवर्धन और आचार्यपाद अभिनवगुप्त—यह त्रयी काश्मीर के वैदुष्य-विज्ञापन के लिए पर्याप्त है। साहित्य शास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य विषय रस, ध्वनि और अलङ्कारों के सम्बन्ध में जो सुन्दर विवेचन इस त्रयी के

द्वारा हुआ है वह अद्वितीय है। प्राच्य और पाश्चात्य दोनों ही पद्धतियों से साहित्य शास्त्र का अध्ययन, आलोडन और मनन करने वालों के लिए इस त्रयी द्वारा उपस्थापित वस्तु, शैली और तर्क हृदयग्राह्य हुए हैं। यही कारण है कि किसी भी विश्वविद्यालय या संस्कृत विद्यालय में साहित्य शास्त्र के प्रत्येक अध्येता और अध्यापक के लिए काव्यप्रकाश और लोचन युक्त ध्वन्यालोक का अनुशीलन और परिशीलन अब तक अपरिहार्य सा बना हुआ है।

इनके अतिरिक्त जैयट, कैयट, वज्रट, उवट, औवट, उद्भट, रुद्रट, धम्मट, कल्लट, भल्लट, लोल्लट, अल्लट, कल्हण, जल्हण, बिल्हण, शिल्हण, मङ्ख, अभिनन्द, क्षेमेन्द्र, सोमदेव, आदि अनेक काश्मीरी विद्वानों की कृतियों से काश्मीर का सर्वविध वैदुष्य विश्वविदित हुआ है। तन्त्र, शैवागम और काव्यों की दृष्टि से संस्कृत वाङ्मय में काश्मीर का विशेष स्थान है। प्राचीन काल में काशी और उज्जयिनी के समान ही काश्मीर भी उत्तम विद्याकेन्द्र रहा और यहाँ के राजा लोग विद्वानों के आश्रयदाता और दूर-दूर से उनका सङ्ग्रह ससम्मान करते रहे। कल्हण ने राजतरङ्गिणी में लिखा है—

विद्यावेश्मानि तुङ्गानि, कुङ्कुमं सहिमं पयः।
द्राक्षेति यत्र सामान्यम् अस्ति त्रिदिवदुर्लभम्॥

पार्थिवों से प्रश्रय, उत्तुङ्ग विद्याभवनों में अध्ययन-अध्यापन की सुन्दर व्यवस्था, सरिताओं, स्रोतों और पुष्करिणियों में बहता हुआ स्वच्छ निर्मल जल, आँखों के ऊपर उठने पर चतुर्दिक् देवतात्मा हिमधवल हिमालय के दर्शन, और झुकने पर सर्वत्र शाद्वलभूमि, केसर की क्यारियाँ, लताओं में लटकते अंगूर और वृक्षों से टपकते फल और फूलों के वातावरण में ऐसा कौन सहृदय है जिसके अन्तस् से अनजान में ही काव्य के मधुरिम उद्गार न फूट निकलें। यही कारण था कि एक समय काश्मीर में सुरभारती का साम्राज्य था और बहुत बड़ी संख्या के कवियों

और विद्वानों ने अपनी अपनी सरस और ससार रचनाओं से भारती का भण्डार भर कर अपने को अमर बनाया और उत्तराधिकारियों के लिए अक्षय निधि छोड़ गये जिनका सङ्कलन और सुन्दर प्रकाशन अब तक नहीं हो सका है। शारदादेश काश्मीर के ये सुकवि सामान्य व्यक्ति न हो कर पृथ्वी पर अवतीर्ण लोकोपकारी सिद्ध पुरुष थे। राजा अवन्तिवर्मा के प्रसङ्ग से कल्हण ने लिखा है—

अनुग्रहाय लोकानां भट्टाः श्रीकल्लटादयः।
अवन्तिवर्मणः काले सिद्धा भुवमवातरन्॥

× × × ×

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥

इसी तरह प्रवरसेन, ललितादित्य, जयादित्य आदि तथा कुछ एक मुगलकालीन राजाओं के राज्यकाल में समस्त विश्व को एकता के सूत्र में ग्रथित करने वाली सुरभारती संस्कृत भाषा का समुन्नयन तथा आबाल-वृद्ध-वनिता वर्ग में प्रचार हुआ। इस प्रसङ्ग में सुकवि बिल्हण के दो श्लोक उद्धरणीय हैं। यद्यपि दूसरा श्लोक बिल्हण की निजी कविता की लोकप्रियता के विषय में गर्वोक्ति है तथापि उससे उस समय की संस्कृत भाषा की काश्मीरी समृद्धि का परिचय तो मिलता ही है। बिल्हण का समय ईसा की दसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध और ग्यारहवीं का प्रारम्भिक काल माना जाता है।

ब्रूमः सारस्वतकुलभुवः किं निधेः कौतुकानां
तस्यानेकाद्भुतगुणकथाकीर्णकर्णामृतस्य।
यत्र स्त्रीणामपि किमपरं जन्मभाषावदेव
प्रत्यावासं विलसति वचः संस्कृतं प्राकृतं च॥

× × × ×

ग्रामो नासौ न स जनपदः सास्ति नो राजधानी
तन्नारण्यं न तदुपवनं सा न सारस्वती भूः ।
विद्वान् मूर्खः परिणतवया बालकः स्त्री पुमान्वा
यत्रोन्मीलत्पुलकमखिला नास्य काव्यं पठन्ति ।।

ऐसा कोई ग्राम नहीं, ऐसा कोई जनपद नहीं, ऐसी कोई राजधानी नहीं, ऐसा कोई जंगल नहीं, ऐसा कोई उपवन नहीं और ऐसा कोई सारस्वत प्रदेश नहीं, जहाँ पुलकित हो कर विद्वान् अथवा मूर्ख, वृद्ध अथवा बालक, स्त्री अथवा पुरुष बिल्हण की कविता को पढ़ते या गुनगुनाते हुए न हों।

काश्मीर में संस्कृत भाषा के ऐसे ही समृद्ध युग में अन्यान्य अनेक कवियों में अन्यतम भल्लट कवि भी हुए जिनका एक मात्र ग्रन्थ भल्लट-शतक ही प्राप्य है। तत्कालीन विद्वद् वर्ग में भल्लट को वही समादर प्राप्त हुआ जो अमरुक और भर्तृहरि को प्राप्त है। ईसवी दसवीं शताब्दी के शेषकाल में वर्त्तमान श्रीमान् अभिनवगुप्तपादाचार्य ने आनन्दवर्धनाचार्य की अनुपम कृति ध्वन्यालोक पर लिखी अपनी लोचन नाम की, विद्वज्जनों से भूरि भूरि श्लाघ्य व्याख्या में, भल्लट के श्लोकों को अनेक स्थलों पर उद्धृत किया है। इसी प्रकार आनन्दवर्धन, मम्मट, क्षेमेन्द्र और वल्लभदेव ने भल्लटशतक के श्लोकों को अपने अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है। शार्ङ्गधरपद्धति में भी इनके श्लोक पाये जाते हैं किन्तु वहाँ किसी किसी श्लोक में इनको भट्टमल्ल कहा गया है। साहित्य शास्त्र के मान्य आचार्यों द्वारा इनके श्लोकों का उद्धरण इनकी विद्वत्ता और लोकप्रियता का पर्याप्त प्रमाण है। इनका शतक शृङ्गार और वैराग्य के पद्यों से शून्य नीति परक ग्रन्थ है। उसमें अप्रस्तुत प्रशंसा और अन्योक्ति प्रधान है। कोई भी सुकवि जब त्रिकालाबाधित तथ्य का सशक्त भाषा में उन्मीलन करता है तो उसकी कविता अमर हो जाती है। भल्लट द्वारा प्रस्तुत लोक दृष्टान्त और निष्कर्ष उक्त रूप के हैं अत एव वे लोकप्रिय हुए।

वलदेव उपाध्याय जी ने इनका समय अवन्तिवर्मा का राज्य काल कहा है किन्तु विण्टरनित्ज और कीथ ने इनको अवन्तिवर्मा के पुत्र शङ्करवर्मा के समय ८८३-६०२ ई० में वर्त्तमान माना है। शङ्करवर्मा के ही राज्यकाल में इनका होना अधिक उपयुक्त ठहरता है यत: विरक्ति की रेखा से संस्पृष्ट इनकी अन्योक्तियों में नैराश्य और शासक से अनादर प्राप्ति का भाव पूर्ण रूप से दृष्टि गोचर होता है। शङ्करवर्मा का ही राज्यकाल ऐसा था जिसमें कुछ अधिकारियों के कुचक्र से सुधीजन मान्य नहीं हो सके थे। भल्लट भी उन्हीं में से एक थे और इसीलिए उनका जीवन अर्थसङ्कट में व्यतीत हुआ।

भल्लटशतक और उसका प्रतिपाद्य विषय

संस्कृत के ऐसे सुकवि जो खण्ड काव्य अथवा महाकाव्य लिखने में नहीं समर्थ थे उन्होंने भी थोड़े वहुत पद्य लिखकर माँ भारती के चरणों में अर्पित किए। इनमें से कुछ ने किसी देवता के विषय में पञ्चक, षट्पदी, सप्तपदी, अष्टक लिखे जिनकी संख्या वहुत है और कुछ ने पञ्चाशिका, शतक, शतकत्रय, पञ्चशती और सप्तशती लिखी। बिल्हण की चौरपञ्चाशिका, बाण और मयूर के चण्डी तथा सूर्यशतक, भर्तृहरि के शतकत्रय, मूक कवि की मूकपञ्चशती-माँ मीनाक्षी की स्तुति तथा गाथा एवम् आर्यासप्तशती बहुत प्रसिद्ध हैं। काशी पीठाधीश्वर दिवङ्गत महेश्वरानन्द-महादेवशास्त्री का भारतशतकम्, इस बीसवीं शती की अद्भुत कृति है। देशभक्ति और देवभक्ति से ओत-प्रोत अत्यन्त प्राञ्जल भाषा में निबद्ध यह शतक प्रत्येक संस्कृत-प्रेमी के पढ़ने की वस्तु है।

भल्लटशतक भी ऐसी ही प्रकीर्ण रचना है। यद्यपि भल्लट कवि का कोई खण्ड या महाकाव्य आदि अनुपलब्ध है तथापि इस शतक से ही उनकी गुम्फन शैली की महत्ता विदित हो जाती है। बाण या मयूर के शतक की भाँति यह एकाश्रयी नहीं है। इसे उन्होंने संस्कृत के विभिन्न छन्दों में सामाजिक दृष्टिकोण की विषमताओं को लक्ष्य कर लिखा है। समाज और

व्यक्ति की प्रायिक विवेकशून्यता के लिए इसमें पर्याप्त उपालम्भ है। अधिकांश पद्य अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार के बड़े सुन्दर उदाहरण हैं। अप्रस्तुतप्रशंसा में वाच्यार्थ अप्रस्तुतपरक होता है और व्यङ्ग्यार्थ प्रस्तुतपरक तथा कवि का प्रधान आशय प्रकृतपरक व्यङ्ग्यार्थ में होता है जिसके लिए वह कूप, सरिता, समुद्र, पशु, पक्षी, पर्वत आदि की उन विशेषताओं की ओर ध्यान आकृष्ट कराता है जो सहज रूप से, प्रकृत मनुष्य में साम्य रखती हैं। संस्कृत साहित्य ऐसी उक्तियों से बहुत समृद्ध है। शृङ्गारी और अशृङ्गारी दोनों ही प्रकार के कवियों ने अपनी मार्मिक उक्तियों के लिए इन नैसर्गिक पदार्थों को माध्यम बनाया है। जड़ और चेतन में सुकवि अपनी पैनी अन्तर्दृष्टि से ऐसा साम्य प्रस्तुत करता है जिसकी प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जा सकता। इस प्रसङ्ग में भल्लट का एक श्लोक देखिए सत्पुरुष की प्रशंसा में सुन्दर मणि का साम्य कैसा सटीक उतरा है—

द्रविणमापदि भूषणमुत्सवे
शरणमात्मभये निशि दीपिका।
बहुविधाभ्युपकारभरक्षमो
भवति कोऽपि भवानिव सन्मणिः॥

उत्तम मणि हीरा-पन्ना आदि आपत्ति के समय आवश्यकतावश बेच दी जाती है अतः वह द्रव्यराशि बन जाती है। शुभ विवाह आदि के अवसर पर वह अलङ्कार का काम करती है। अपने ऊपर प्राणघातक विपत्ति आने पर उसे देकर जान बचाई जा सकती है। इस प्रकार वह शरणदाता है और रात्रि के समय उसके प्रकाश से भी काम बनता है। इसी तरह सत्पुरुष साथी या किसी भी व्यक्ति को आपत्तिग्रस्त पाकर पैसे-रुपये से उसकी सहायता करता है, सामाजिक उत्सव में वह आ जाता है तो उत्सव की शोभा बढ़ जाती है—आत्मभय के समय वह बहुधा जमानतदार आदि बन कर शरणदाता होता है और संसार की बहुविध सङ्कट रूपी रात्रि में वह उत्तम सुझाव प्रस्तुत कर दीपक जैसा समुज्ज्वल प्रकाश पैदा कर देता है

इस प्रकार दोनों की वहुविध उपकार-प्रवणता के साम्य से सत्पुरुष की कैसी सुन्दर प्रशस्ति की गई है।

जन-मत वहुत वड़ी शक्ति है । वहुधा हम को उसी के आधार पर किसी व्यक्ति, संस्था अथवा शासन के प्रति अपनी आस्था अनास्था को सँवारना सँजोना होता है। ऐसे समय यदि किसी सिद्धान्त से काम न लिया जायगा तो हम को बाद में पश्चात्ताप और हानि का भी अवसर आ सकता है। इस सम्बन्ध में भल्लट की उक्ति है—

सद्‌वृत्तयः सदसदर्थविवेकिनो ये
ते पश्य कीदृशममुं समुदाहरन्ति ।
चोरासतीप्रभृतयो ब्रुवते यदस्य
तद् गृह्यते यदि कृतं तदहस्करेण ।

किसी भी व्यक्ति आदि के विषय में अपनी निजी राय स्थिर करने से पूर्व हम को यह देख लेना चाहिए कि उसके विषय में – उत्तम आचार-व्यवहार वाले और भलाई-बुराई पर गहराई से विचार करने वाले लोग क्या कहते हैं। यदि चोर, व्यभिचारी और व्यभिचारिणी आदि जो कुछ कहते हैं उसे मान लिया जाय तव तो हम को सूर्य को भी हेय मानना पड़ेगा क्योंकि चोर और लम्पट पुरुष तथा असती स्त्रियाँ तो अपने पाप-कर्म के लिए रात्रि को ही अच्छा मानते हैं उनके लिए तो सूर्य सर्वथा बुरा है।

सूर्य के ही प्रसङ्ग से एक दूसरी सदुक्ति देखिए—

पातः पूष्णो भवति महते नोपतापाय यस्मा-
त्कालेनास्तं क इह न य ययुर्यान्ति यास्यन्ति चान्ये ।
एतावत्तु व्यथयतितरां लोकबाह्यैस्तमोभि-
स्तस्मिन्नेव प्रकृतिमहति व्योम्नि लब्धोऽवकाशः ।।

सूर्य का पतन अर्थात् अस्त होना देख कर अधिक सन्ताप नहीं होता क्योंकि समय आने पर कौन नहीं नष्ट हुआ, होता है या होगा ? यह तो

त्रैकालिक सत्य है। अत्यधिक कष्ट तो इस बात का है कि जो अन्धकार सूर्य के द्वारा तिरस्कृत होकर संसार से निकाल दिया गया था वही अन्धकार अब उसी सूर्य के क्षेत्र अनन्त आकाश में अधिकार जमाए बैठा है।

महान् कलाकारों की कृतियाँ, कुशल शिल्पियों के अद्‌भुत शिल्प, अखण्ड भूमण्डल के अधिपति सम्राट् सभी कालकवलित होते देखे जाते हैं किन्तु खेद तब होता है जब अयोग्यतम व्यक्ति उत्तम पद पर आरूढ़ देखा जाता है।

केसर की हरी-भरी क्यारी पाला या अन्य किसी कारण से विनष्ट हो जाय तो ठीक है किन्तु उसे गदहा चर कर नष्ट करे यह किसी सहृदय को कैसे सह्य हो सकेगा ?

आबद्धकृत्रिमसटाजटिलांसभित्ति-
रारोपितो मृगपतेः पदवीं यदि श्वा ।
मत्तेभकुम्भतटपाटनलम्पटस्य
नादं करिष्यति कथं हरिणाधिपस्य ।।

कुत्ते के कन्धों पर यदि शेर की नकली अयाल (गर्दन पर के झबरे बाल) बाँध कर उसे मृगपति सिंह की पदवी दे भी दी जाय तो भी वह कुत्ता, मतवाले हाथियों के गण्डस्थल को विदीर्ण करने के व्यसनी सिंह की सी गर्जना कैसे कर सकेगा ?

इसी प्रकार अन्यान्य अधिकांश पद्यों में अप्रस्तुतप्रशंसा के आश्रय से तीक्ष्ण और मृदु व्यङ्ग्य के रूप में साधारण मानव को महामानव बनाने वाले मार्मिक उपदेश शतक के पद्यों का प्रतिपाद्य विषय है।

भल्लट का भली बातों का उपदेश धर्मशास्त्र और विशुद्ध नीतिपरक ग्रन्थों जैसा विधिलिङ् के प्रयोगों का प्राचुर्य लिए हुए नहीं है। उनका ढंग उत्तम कवि के उपयुक्त आलङ्कारिक है। भाषा पर उनका अधिकार है इसलिए उसमें ओज, प्रसाद और व्यङ्ग्य की कटुता के साथ ही इक्षुरस

जैसा माधुर्य है। उनकी उक्तियाँ सशक्त हैं इसीलिए सहज रूप से मानस-पटल पर अङ्कित हो जाने वाली हैं। छन्दः शास्त्र में भी उनको निपुणता प्राप्त है अतः पूरे शतक में उन्होंने विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया है।

शतकारम्भ में सूर्य का मङ्गलाचरण और अन्यान्य अनेक पद्यों में सूर्य के निदर्शन से भल्लट के इष्टदेवता सूर्य कहे जा सकते हैं। इष्टदेवता के अनुरूप ही उनमें ओजस् और वर्चस् का समावेश है। पूरे शतक को देखने से यह बात सहजरूप से समझ में आती है कि विद्वान् होते हुए भी उनको और उनके समान अन्य विद्वानों को राजा के अविवेक के कारण राजाश्रय नहीं प्राप्त हो सका था। यही कारण है कि ऊपर उनका शङ्करवर्मा के राज्यकाल में होना लिखा गया है। शङ्करवर्मा का ही ऐसा राज्यकाल था जिसमें विद्वानों का अनादर और चाटुकार मूर्खों को प्रश्रय मिला, जैसा कि कल्हण की राजतरङ्गिणी के पञ्चम तरङ्ग के १८३ वें श्लोक से प्रतीत होता है—

निमित्तं मण्डलेऽमुष्मिन् सविद्यानामनादरे।
राज्ञां प्रतापहानौ च नान्यः शङ्करवर्मणः॥

इनके नाम को निरर्थक मान किसी ने संशोधन कर भट्टमल्ल और मल्लभट्ट भी कहा है जो भ्रम है। भ्रमवश इनके कुछ पद्य सुभाषितावलि और शार्ङ्गधर पद्धति में अन्य कवियों के नाम से उद्धृत हो गये हैं। सुभाषित सुधारत्नभाण्डागार में निम्न श्लोक भल्लट के नाम से उद्धृत हुआ है किन्तु वह भल्लटशतक में अप्राप्य है—

वपुर्विषमसंस्थानं कर्णज्वरकरो रवः।
करभस्याशुगत्यैव छादिता दोषसंहतिः॥

काश्मीर के विद्वानों की कृतियाँ अपूर्व हैं। उनमें काव्य के सभी उत्तम गुण वर्तमान हैं। इतिहास, दर्शन और साहित्य की दृष्टि से ये कृतियाँ बेजोड़ हैं। इन विद्वानों द्वारा लिखी गई टीकाएँ भी अनुपम हैं। वराहमिहिर

की बृहत्संहिता पर भट्टोत्पल की टीका एक स्वतन्त्र ग्रन्थ हो सकता है। उसमें पूर्व विद्वानों के वचनों का बड़ा वैदुष्यपूर्ण सङ्कलन हुआ है। यदि वह टीका न होती तो बृहत्संहिता के अनेक स्थलों का अर्थ लगाना कठिन होता। वल्लभदेव की माघकाव्य पर टीका भी उत्तम कोटि की है। खेद है कि काश्मीरी विद्वानों के बहुत से ग्रन्थ अब तक अमुद्रित और विलुप्त हैं। उनके लिए एक पृथक् अनुसन्धानशाला की आवश्यकता है।

मुझे सुभाषितावलि का हिन्दी अनुवाद लिखते समय भल्लट बहुत भले लगे अतः मैंने किसी टीका टिप्पणी के अभाव में और ग्रन्थ की अनुपलब्धि को ध्यान में रखकर यह हिन्दी अनुवाद किया है। मुझ जैसे अल्पज्ञ से त्रुटि होना स्वाभाविक है। एतदर्थ क्षमा प्रार्थना के साथ मैं चाहूँगा कि काश्मीरी पण्डितों की कृतियाँ अधिकाधिक प्रकाश में लाई जायँ।

रामचन्द्र मालवीय

वाराणसी
१२-१-१९७५



॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

॥ भल्लटशतकम् ॥

[१]

युष्माकमम्बरमणेः प्रथमे मयूखा-
स्ते मङ्गलं विदधतूदयरागभाजः ।
कुर्वन्ति ये दिवसजन्ममहोत्सवेषु
सिन्दूरपाटलमुखीरिव दिक्पुरन्ध्रीः ॥

'उदयाचल को रंगीन बना देने वाली, अम्बरमणि भगवान् सूर्य की वे प्रथम किरणें आप सब का मङ्गल करें जो मानों दिवस रूपी पुत्र-जन्म के महोत्सव में पति-पुत्र वाली समस्त दिशा रूपी वनिताओं की मुखश्री को सौभाग्यचिह्न सिन्दूर से रञ्जित सा कर देती हैं'।

माङ्गलिक अवसरों पर सुहागिनों की पूजा भारतीय संस्कृति का अंग है।

---

१. वल्लभ देव कृत *सुभाषितावलि—सुभा०* श्लोक ७३ (अनु० पं० रामचन्द्र मालवीय, प्रकाशक—"आनन्द बन्धु" जगतगंज, वाराणसी १९७४) में इस श्लोक को 'भागवतामृतदत्त' के नाम से उद्धृत किया गया है परन्तु यह भ्रम है।

[२]

बद्धा यदर्पणरसेन विमर्दपूर्व-
मर्थान् कथं झटिति तान्प्रकृतान्न दद्युः ।
चोरा इवातिमृदवो महतां कवीना-
मर्थान्तराण्यपि हठाद् वितरन्ति शब्दाः ।।

'सुकवि अपनी रचना में जिन-जिन अर्थों को प्रकट करने के लिए बड़ी छान-बीन के साथ शब्दों को रखते हैं उन-उन प्रासङ्गिक अर्थों को तो वे शब्द तत्काल प्रकट ही कर देते हैं किन्तु इसके साथ ही उन महाकवियों की वह कोमलकान्त पदावली अन्य अर्थात् व्यङ्ग्य अर्थ को भी उसी प्रकार हठात् प्रकट कर देती है जिस प्रकार कोमल (कच्चे) चोर पकड़ जाने पर एक चोरी का माल तो दे ही देते हैं साथ ही अन्य चोरियों का भी धन उनसे प्राप्त हो जाता है' ।

महाकवियों के शब्दगुम्फन की कितने सुन्दर ढंग से प्रशंसा की गई है ।

[३]

काचो मणिर्मणिः काचो
येषां तेऽन्ये हि देहिनः ।
सन्ति ते सुधियो येषां
काचः काचो मणिर्मणिः ।।

'जिनको काँच मणि मालूम पड़ता है और मणि काँच समझ में आता है वे कुछ दूसरे ही व्यक्ति होते हैं । सद्-असद् विवेकी सुधी जनों के लिए तो काँच-काँच ही होता है और मणि-मणि ही' ।

विद्वज्जनों की पैनी दृष्टि यथार्थ को ही ग्रहण करती है उसमें भ्रम नहीं होता ।

[४]

नन्वाश्रयस्थितिरियं तव कालकूट
केनोत्तरोत्तरविशिष्टपदोपदिष्टा ।
प्रागर्णवस्य हृदये वृषलक्ष्मणोऽथ-
कण्ठेऽधुना वससि वाचि पुनः खलानाम् ।।

'हे कालकूट, तुमको रहने के लिए एक के बाद दूसरी उत्तम से उत्तम जगह किसने बताई, जिससे तुम पहले समुद्र में रहे, उसके बाद भगवान् शङ्कर के कण्ठ में और अब दुष्टों की वाणी में रह रहे हो'।

दुष्ट आदमी की जबान सबसे अधिक जहरीली चीज है, इसे कितने प्रभावशाली और रुचिकर ढंग से प्रस्तुत किया गया है। समुद्र की अतल गहराई से उठ कर शङ्कर के गले में और गले से ऊपर मुख में, इस तरह आप तो ऊँचे ही उठते चले गये। पर्याय अलङ्कार का उत्तम उदाहरण है।

[५]

द्रविणमापदि भूषणमुत्सवे
शरणमात्मभये निशि दीपिका[1] ।
बहुविधाभ्युपकारभरक्षमो
भवति कोऽपि भवानिव सन्मणिः ।।

उत्तम मणि से समता प्रदर्शित करते हुए किसी सत्पुरुष के लिए कैसी सुन्दर उक्ति है।

'उत्तम मणि हीरा पन्ना आदि आपत्ति आने पर बेच दिये जाने से पैसे का काम निबाहती है, विवाह आदि उत्सवों के अवसर पर आभूषण बन जाती है, अपने ही ऊपर किसी प्रकार का जान जाने आदि का खतरा आ जाय तो उसे देकर आत्मरक्षा की जा सकती है, रात्रि के अन्धकार में दीपक का काम करती है। इस प्रकार बहुविध उपकार कर सकने में समर्थ, ठीक आप ही की तरह उत्तम, मणि होती है'।

---

१. निशि दीपकः—सुभा० श्लोक २४६०।

[६]

श्रीविशृङ्खलखलाभिसारिका
वर्त्मभिर्घनतमोमलीमसैः ।
शब्दमात्रमपि सोढुमक्षमा
भूषणस्य गुणिनः समुत्थितम् ।।

'मेघों के घने अन्धकार से कलुषित मार्ग के द्वारा श्री (लक्ष्मी) उद्दण्ड दुष्टों का अनुसरण करती है और तब वह गुणी भूषण के शब्द मात्र (खनक) को भी सुनना नहीं चाहती'।

कृष्णाभिसारिका नायिका सावन-भादों की अँधियाली में जब अपने प्रेमी से मिलने जाती है तब उसे अपने ही गहनों की खनक भी नहीं सुहाती। इसी तरह उच्छृङ्खल धनवान् व्यक्ति किसी भी गुणी की भली बात नहीं सुनना चाहता।

[७]

माने नेच्छति वारयत्युपशमे क्ष्मामालिखन्त्यां ह्रियां
स्वातन्त्र्ये परिवृत्य तिष्ठति करौ व्याधूय धैर्ये गते ।
तृष्णे त्वामनुबध्नता फलमियत्प्राप्तं जनेनामुना
यः स्पृष्टो न पदा स एव चरणौ स्प्रष्टुं न सम्मन्यते ।।

तृष्णा बुरी वस्तु है, उसके चक्कर में पड़ने से मनुष्य के पतन की पराकाष्ठा हो जाती है। इसी आशय को प्रकट करने के लिए कवि तृष्णा को ही सम्बोधित कर कहता है—

'हे तृष्णे, जब मैं तेरा पीछा करने चला तब मेरा आत्माभिमान तुझे नहीं चाह रहा था, मेरी मनः शान्ति मुझे मना कर रही थी, मेरी लज्जा पृथ्वी कुरेदने लगी थी मानों जमीन में गड़ी जा रही हो, स्वतन्त्रता चकरा गई थी, धैर्य हाथ पटक कर चला गया - इतने पर भी मैंने तुम्हारा ही अनुगमन किया जिसका फल मुझे यह मिला है कि जिसे मैंने कभी पैरों से भी नहीं स्पर्श करना चाहा था वही अब मुझे अपना पैर तक छूने नहीं देता'।

लोभ-लालच और तृष्णा के परिणाम का कितना सजीव वर्णन है।

[८]

पततु वारिणि यातु दिगन्तरं
विशतु वह्निमथ व्रजतु क्षितिम् ।
रविरसावियतास्य गुणेषु का
सकललोकचमत्कृतिषु क्षतिः ।।

'सूर्य जल अर्थात् समुद्र में डूब जायँ, अपनी दिशा पूर्व से पश्चिम या अन्यत्र चले जायँ, आग में प्रविष्ट हो जायँ अथवा धरातल पर चले आएँ, इससे उनके समस्त जगत् को प्रकाशित करने के गुण की क्या हानि होती हैं' ?

मनुष्य आपत्ति में पड़ जाय अथवा अत्यन्त ऐश्वर्यशाली होकर सुखी हो जाय, स्वदेश में रहे अथवा परदेश में, इससे उसके महान् गुणों और कार्यों के सुयश में कोई अन्तर नहीं पड़ता ।

[६]

सद्वृत्तयः सदसदर्थविवेकिनो ये
ते पश्य कीदृशममुं समुदाहरन्ति ।
चोरासती प्रभृतयो ब्रुवते यदस्य
तद् गृह्यते यदि कृतं तदहस्करेण ।।

'देखना चाहिए कि सदाचारी और भले बुरे का विवेक रखने वाले लोग सूर्य के विषय में क्या कहते हैं ? अच्छा या बुरा । किन्तु, यदि चोर और व्यभिचारिणी स्त्री आदि जो कहते हैं उसको मान लिया जाय तब तो सूर्य की सत्ता ही व्यर्थ हो जायगी' ।

भले लोगों की धारणा के अनुकूल ही किसी मनुष्य के आचरण और चरित्र आदि के विषय में अपनी राय बनानी चाहिए ।

[१०]

पातः पूष्णो भवति महते नोपतापाय यस्मा-
त्कालेनास्तं क इह न ययु[१]र्यान्ति यास्यन्ति चान्ये ।
एतावत्तु व्यथयतितरां लोकबाह्यैस्तमोभि-
स्तस्मिन्नेव प्रकृतिमहति व्योम्नि लब्धोऽवकाशः ।।

'सूर्य का पतन अर्थात् अस्त हो जाना महान् संतापकारी नहीं होता क्योंकि समय आ जाने पर कौन नहीं नष्ट हुआ, होता है, अथवा होगा। किन्तु, इस बात से अत्यन्त कष्ट होता है कि जिस सूर्य के रहते अन्धकार का संसार से बहिष्कार हो गया था वही अब उस निसर्गतः महान् आकाश में ही चारों ओर से छा गया है'।

किसी भले के स्थान पर बुरे का अधिकार हो जाना सत्पुरुषों को कष्ट कारक होता है।

[११]

पङ्क्तौ विशन्ति गणिताः प्रतिलोमवृत्त्या
पूर्वं भवेयुरियताप्यथवा त्रपेरन् ।
सन्तोऽप्यसन्त इव चेत्प्रतिभान्ति भानो-
र्भासावृते नभसि शीतमयूखमुख्याः ।।

'अयोग्य अथवा उच्छृङ्खल व्यक्ति विद्वानों और गुणियों की गणना के अवसर पर हठात् पङ्क्ति में घुस आते हैं और यदि एक ओर से गिनती करने में उनका क्रम पीछे आता है तो वे आग्रह करते हैं कि उलटी अर्थात् दूसरी ओर से गिनती की जाय तो हमारा क्रम पहले आएगा। इसी तरह दुष्ट ग्रह राहु अमृत वितरण के समय देवताओं की पङ्क्ति में घुस आया था। इतनी उद्दण्डता से भी वे लज्जित नहीं होते, किन्तु होता यह है कि जिस तरह आकाश में सूर्य का प्रखर प्रकाश फैल जाने पर चन्द्रमा जैसे प्रमुख ग्रह, नक्षत्र आदि तिरोहित हो जाते हैं उसी प्रकार मूर्ख भी सुधी जनों के गुण-गौरव के प्रकाश में स्वयं ही मन्द हो जाता है'।

---

१. क इव न गता—*सुभा०* श्लोक ५६३। शाङ्गंधर पद्धति (शा० प०) (सम्पा० पीटर पीटर्सन, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली १९८७) श्लोक ७४५—क इह न गता।

[१२]

गते तस्मिन् भानौ त्रिभुवनसमुन्मेषविरह-
व्यथां चन्द्रो नेष्यत्यनुचितमतो नास्त्यसदृशम् ।
इदं चेतस्तापं जनयतितरामत्र यदमी
प्रदीपाः संजातास्तिमिरहतिबद्धोद्धुरशिखाः ॥

'उस सूर्य के अस्त हो जाने पर त्रिभुवन को विकासित और प्रकाशित करने का कार्य चन्द्रमा कर लेगा यह अनौचित्य अयोग्य नहीं है किन्तु अत्यन्त दुःखदायी बात यह है कि ये दीपक भी अन्धकार के नाश करने का गर्व लेकर अपनी शिखाओं (लौ) को उन्नत किये हुए हैं।

[१३]

सूर्यादन्यत्र यच्चन्द्रेऽप्यर्थासंस्पर्शि[१] तत्कृतम् ।
खद्योत इति कीटस्य नाम तुष्टेन केनचित् ॥

'ख अर्थात् आकाश को जो द्योतित (प्रकाशित) करे वह खद्योत है। यह चन्द्र और सूर्य दोनों ही के लिये प्रयुक्त होता है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि किसी पक्षपात पूर्ण व्यक्ति ने 'जुगनू' से सन्तुष्ट होकर उसका भी खद्योत यह नाम --जिसमें कि अर्थ की संगति नहीं बैठती--रख दिया है'।

बहुधा लोग पक्षपात वश किसी अयोग्य को भी महान् योग्यता का पद दे देते हैं।

---

१. अर्थसंस्पर्शि—सुभा० श्लोक ७७७।

[१४]

घनसंतमसमलीमसदशदिशि निशि यद्विराजसि तदन्यत् ।
कीटमणे दिनमधुना तरणिकरस्थगित[1]सितकिरणम् ।।

'हे जुगनू ! दसों दिशाओं में फैले हुए घने अन्धकार के कारण काली रात में जो तुम विराजमान रहते हो वह कुछ दूसरी बात है किन्तु जरा होश में आओ । अब दिन हो गया है । इसमें सूर्य की किरणों से चन्द्रमा की भी रश्मियाँ आभाहीन हो गई हैं तो तुम्हारी क्या बिसात है' ।

मनुष्य को अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार ही देश-काल का ध्यान रखते हुए काम करना चाहिए ।

[१५]

सत्त्वान्तःस्फुरिताय वा कृतगुणाध्यारोपतुच्छाय वा
तस्मै कातरमोहनाय महसो लेशाय मा स्वस्ति भूत् ।
यच्छायाच्छुरणारुणेन खचिता खद्योतनाम्नामुना
कीटेनाहितयापि जङ्गममणिभ्रान्त्या विडम्बयामहे ।।

'संसार में ऐसे भी अवसर आते हैं जब हम किसी के थोड़े से भी चमत्कार अथवा नकली रूप से प्रभावित होकर उस वस्तु या व्यक्ति को महान् मान बैठते हैं । जब कि होता यह है कि किसी तुच्छ व्यक्ति की वह चमक-दमक सबके हृदय में प्रकाशमान परमात्म चैतन्य की हलकी सी झलक होती है । जुगनू में यह वह सामान्य सी झलक ही है जिससे हम उसे उड़ता-फिरता रत्न समझने की भूल कर बैठते हैं' ।

भल्लट कवि का कथन है कि ऐसे तेज के लेश का प्रसार श्रेयस्कर नहीं है जिससे सामान्य जन ठगे जायँ ।

---

१. तरणिकरान्तरित—*सुभा*० श्लोक ७७८ और *शा*० प० श्लोक ८८९ ।

[१६]

दन्तान्तकुन्तमुखसंततपातघात-
सन्ताडितोन्नतगिरिर्गज एव वेत्ति ।
पञ्चास्यपाणिपविपञ्जरपातपीडां
न क्रोष्टुकः श्वशिशुहुङ्कृतिनष्टचेष्टः ॥

'अपने पैने दाँत रूपी भाले के अग्रभाग से ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों पर लगातार आघात करने वाला हाथी ही सिंह के हाथ रूपी वज्र प्रहार की पीड़ा को समझ सकता है। कुत्ते के बच्चे की भी भूँक से सहम जाने वाला सियार उसे क्या जानेगा' ?

बड़ों की बात बड़े ही समझ सकते हैं।

[१७]

अत्युन्नतिव्यसनिनः शिरसोऽधुनैष
स्वस्यैव चातकशिशुः प्रणयं विधत्ताम् ।
अस्यैतदिच्छति यदि[1] प्रततासु दिक्षु
ताः स्वच्छशीतमधुराः क्व नु नाम नापः ॥

'चातक-शिशु को अत्यधिक उन्नति के व्यसनी अपने शिर से ही प्यार करना सीखने दो, क्योंकि यदि वह इसे सीख जाएगा तो उसे इस विशाल विश्व में ठंडा, मीठा और साफ पानी कहाँ नहीं मिलेगा'।

पपीहे के लिए प्रसिद्ध है कि वह स्वाती का ही जल पीता है जिसकी आशा में वह ऊँचा शिर किए मेघों की ओर देखता रहता है। फलस्वरूप उसे स्वाती का जल मिल कर ही रहता है। इसी प्रकार अपने जाति-वंश आदि की मर्यादा की रक्षा के लिए मर-मिटने का दृढ़ सङ्कल्प रखने वाले को तदनुसार सफलता मिल कर ही रहती है।

---

१. नहि—*सुभा०* श्लोक ६७७।

२

[१८]

सोऽपूर्वो रसनाविपर्ययविधिस्तत्कर्णयोश्चापलं
दृष्टिः सा मदविस्मृतस्वपरदिक् किं भूयसोक्तेन वा ।
पूर्वं निश्चितवानसि[1] भ्रमर हे यद्वारणोऽद्याप्यसा-
वन्तःशून्यकरो निषेव्यत इति भ्रातः क एष ग्रहः ।।

श्लेषार्थ के साथ इस श्लोक में अप्रस्तुत प्रशंसा की गई है। हाथी और भ्रमर इन अप्रस्तुतों के माध्यम से सेवक को उस स्वामी की नौकरी छोड़ देने को कहा गया है जो झूठ बोलने वाला, कान का कच्चा, घमण्डी, बात-बात में 'नौकरी से निकाल दूँगा' यह कहने वाला तथा पैसे से भी दिवालिया है।

हाथी के "रसना-विपर्यय" के विषय में महाभारत "अनुशासन पर्व" अध्याय पचासी का यह आख्यान जान लेना आवश्यक है कि एक समय तारकासुर के अत्याचार से देवता लोग अत्यन्त त्रस्त और पीड़ित होकर ब्रह्माजी के पास गये। तब उन्होंने उन लोगों को आश्वस्त किया कि घबड़ाओं नहीं, अग्नि के द्वारा कार्त्तिकेय की उत्पत्ति होगी, जो तारकासुर का वध कर तुम्हारा दुःख दूर करेंगे। अग्निदेव कहीं छिपे हुए थे। उनकी खोज में देवता लोग इधर-उधर लोगों से पूछ-ताछ करने लगे। इस प्रसङ्ग में उन्होंने एक हाथी से भी पूछा। उसने बता दिया कि अग्निदेव पीपल के पेड़ में छिपे बैठे हैं। अग्निदेव इस पर बहुत क्रुद्ध हुए और हाथी मात्र को श्राप दिया कि तुम्हारी जीभ सामान्य जीवों से उलटी लगी हुई होगी—

मनुष्य के पक्ष में जीभ या जबान का पलटना—बात कह कर बदल जाना है। हाथी के कानों की चंचलता उन्हें हिलाते रहना, मद से जवानी में कनपटी से बहने वाला रस, और वारण उसका नाम है जिसका अर्थ है रोकना। अन्तःशून्य कर से तात्पर्य हाथी की पोली सूँड़ और पैसे से शून्य मालिक से है।

'हे भ्रमर, वह अद्‌भुत उलटी जबान (जीभ), कानों की चञ्चलता अर्थात् हरदम फट-फट करते रहना, मतवाला अर्थात् मदस्रावी होने से अपना पराया मार्ग भूल जाना मनुष्य के लिए विवेक शून्य हो जाना, वारण अर्थात् बारम्बार रोकना, (कल से मत आना) और भीतर से शून्यता यह सब तुम एक दम भूल बैठे या यह सब ठीक से जान कर भी जो तुम इस वारण (दुष्ट स्वामी) की सेवा कर रहे हो यह तुम्हारा कैसा दुराग्रह है'।

---

१. सर्वं विस्मृतवानसि- सुभा० श्लोक ७५१।

[१९]

तद् वैदग्ध्यं समुदितपयस्तोयतत्त्वं विवेक्तुं
संल्लापास्ते[1] स च मृदुपदन्यासहृद्यो विलासः ।
आस्तां तावद्बक यदि तथा वेत्सि किञ्चिच्छ्लथांसं[2]
तूष्णीमेवासितुमपि[3] सखे त्वं कथं मे न हंसः ।।

'मिले हुए दूध और पानी को अलग-अलग कर देने की वह चतुराई, वह मधुर और वह मनोहर पदविन्यास (चाल, गति) यह सब तो दूर रहे अर्थात् तुम में न भी हो तो भी, यदि तुम कन्धे को कुछ झुका कर या ढीला कर चुपचाप बैठना भी जान सको तो तुम मेरे लिए हंस क्यों न बन सकोगे अर्थात् इतने ही से मैं तुम्हें हंस मान लूंगा'।

बहुधा हम सब अपने व्यवहार में यह कहते सुने जाते हैं कि अरे भाई, तुम और कुछ मत करो, खाली झूठ बोलना ही छोड़ दो या अमुक दुर्गुण छोड़ दो तो तुम हीरा बन जाओ या मेरे प्रिय हो जाओ—इत्यादि। इसी ढंग का यह श्लोक है। मात्र एक अच्छाई भी प्रियता का कारण हुआ करती है।

[२०]

पथि निपतितां शून्ये दृष्ट्वा निरावरणाननां
नवदधिघटीं गर्वोन्नद्धः समुद्धतकन्धरः ।
निजसमुचितास्तास्ताश्चेष्टा विकारशताकुलो
यदि न कुरुते काणः काकः कदा नु करिष्यति ।।

क्षुद्र व्यक्ति बहुत थोड़े ही उत्कर्ष से इतराने लगते हैं—

क्षुद्र नदी भरि चलि इतराई ।
जनु थोरे धन खल बौराई ।।—तुलसीदास

इसी आशय को एक कौवे के दृष्टान्त से कहा गया है।

'सूने रास्ते में बिना ढक्कन के खुली हुई, रक्खी हुई नई दही की हाँड़ी को देख कर यदि काना कौआ घमण्ड में भर कर कंधों को ऊँचा कर अपने ढंग की तरह-तरह की कुचेष्टाएँ नहीं करने लगता तो फिर भला कब करेगा'?

---

१. अ'लापा०— सुभा० श्लोक ७६२ ।
२. श्लथाशम् ।
३. अयि ।

[२१]

नृत्यन्तः शिखिनो मनोहरममी श्राव्यं[१] पठन्तः शुकाः
वीक्ष्यन्ते न त एष[२] सम्प्रति रुषा वार्यन्त एवाधुना[३] ।
पान्थस्त्रीगहमिष्टलाभकथनाल्लब्धान्वयेनामुना
सम्प्रत्येत्य निरर्गलं[४] बलिभुजा मायाविना भुज्यते ।।

'समय की गति कैसी विचित्र होती है कि नाचते हुए मयूरों और मनोहर बोल बोलते हुए तोतों की ओर देख कोई भी नहीं रहा है बल्कि क्रोध वश उनको बोलने और नाचने से रोका जा रहा है और दूसरी ओर पथिक की स्त्री कौआ के बोलने को प्रियतम के आने का शकुन समझ कर उस मायावी को स्वच्छन्द रूप से खाना खिला रही है ।

[२२]

करभ, रभसात्क्रोष्टं वाञ्छस्यहो श्रवणज्वरः
शरणमथवानृज्वी दीर्घा तवैव शिरोधरा ।
बहुगल[५]बिलावृत्तिश्रान्तोच्चरिष्यति वाङ्मुखा-
दियति समये को जानीते भविष्यति कस्य किम् ।।

'हे ऊँट ! तुम जो बड़े जोर से बलबलाना या बोलना चाहते हो तो वह तो कानों के लिए बड़ा ही दुखदाई होगा अथवा तुम्हारी टेढ़ी-मेढ़ी लम्बी गरदन ही इस दुख को सहन कराने में सहायक होगी, क्योंकि गले के लम्बे छेद से बाहर आते-आते तुम्हारी वाणी थक कर देर से निकलेगी और इतनी देर में तो कौन जानता है किसका क्या होगा' ?

हम न रहें या तुम न रहो अथवा कोई ऐसी आकस्मिक घटना हो कि बोल ही बन्द हो जाय—इस तरह इस संसार में किस क्षण क्या हो जायगा कोई नहीं जानता —"क्षणादूर्ध्वं न जानेऽहं विधाता किं विधास्यति" ।

---

१. श्रव्यम्—*सुभा०* श्लोक ७७१ ।
२. एव ।
३. एवाथवा ।
४. सम्प्रत्येतदनर्गलम् ।
५. पृथुगल—*सुभा०* श्लोक ६६९ ।

[२३]

अन्तश्छिद्राणि भूयांसि कण्टका बहवो बहिः ।
कथं कमलनालस्य मा भूवन् भङ्गुरा गुणाः ।।

'कमल के नाल में भीतर बहुत से छिद्र और बाहर काँटे होते हैं इतने पर भी उसके गुण अर्थात् भीतरी रेशे, तन्तु विनाशशील क्यों न होंगे' ?

किसी भी मनुष्य में यदि भीतर स्वाभाविक दोष हैं और बाहर कुसङ्गति रूप काँटे हैं तो अवश्य ही उसके थोड़े बहुत भी गुण नष्ट हो ही जायेंगे ।

कुवलयानन्द में यह अप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण है ।

[२४]

किं दीर्घदीर्घेषु गुणेषु पद्म सितेष्ववच्छादनकारणं ते ।
अस्त्येव तान्पश्यति चेदनार्या त्रस्तेव लक्ष्मीर्न पदं विधत्ते ।।

कमल नाल में बड़े लम्बे-लम्बे रेशे, तन्तु होते हैं जिन्हें संस्कृत में गुण कहते हैं और अच्छी बातों का भी नाम गुण है । दोनों ही अर्थों को एक साथ ध्यान में रखते हुए कवि कमल को सम्बोधित कर कहता है—

'हे कमल के फूल, क्या कारण है कि तुम अपने लम्बे-लम्बे रेशों (गुणों) को ढाँके हुए रहते हो ? कमल उत्तर देता है—

कारण है । और वह यह कि अनार्या लक्ष्मी यदि मेरे गुणों के विषय में जान जायेगी, तो वह मेरे पास नहीं आवेगी कि कहीं गुण (रस्सी या डोर) में बाँध न ली जाऊँ' ।

गुणी लोगों के पास लक्ष्मी नहीं जाती । गुणी पुरुष प्रायः निर्धन ही देखे जाते हैं इस बात को प्रश्नोत्तर रूप में कितने सुन्दर ढंग से कहा गया है ।

[२५]

न पङ्कादुद्भूतिर्न जडसहवासव्यसनिता
वपुर्दृश्यं कान्त्या स्थलकमल रक्तद्युतिमुषा[1] ।
व्यधास्यद्दुर्वेधा हृदयलघिमानं यदि न ते
त्वमेवैकं लक्ष्म्याः परममभविष्यः पदमिह ।।

'हे स्थलकमल (गुलाव के फूल), कमल की तरह न तो तुम कीचड़ से पैदा होते हो न तुमको जड़ पदार्थ जल के साथ रहने का शौक है और साथ ही लाल-लाल चमक से तुम्हारा शरीर भी दर्शनीय है किन्तु दुष्ट विधाता ने यदि तुम्हारा हृदय छोटा न बनाया होता तो अवश्य ही तुम्हीं अकेले लक्ष्मी के परम कृपा-पात्र होते। लक्ष्मी अपने आवास या आसन के लिए तुम्हीं को चुनती'।

कमल का मध्यभाग वहुत वड़ा होता है और गुलाव का सङ्कीर्ण। हृदय का उदार मनुष्य महान् वनता है।

[२६]

उच्चैरुच्चरतु चिरं झिल्ली[2] वर्त्मनि तरुं समारुह्य ।
दिग्व्यापिनि शब्दगुणे शङ्खः संभावनाभूमिः ।।

'झिल्ली रास्ते में पेड़ पर चढ़ कर जोर से कितनी भी देर तक क्यों न चिल्लाये, पर दिशाओं के कोने-कोने में जिसका शब्द गूँज उठता है ऐसे शङ्ख का ही आदर किया जाता है। मन्दिर आदि में शङ्ख पूजनीय रूप से रक्खा जाता है'।

ऊँचे चढ़ कर चिल्लाने अथवा ढिंढोरा पीटने से मनुष्य का आदर नहीं होता। आदर प्राप्त करने के लिए मनुष्य में गुण होना चाहिए।

---

१. वपुर्दिग्धं कान्त्या स्थलनलिनरत्नद्युतिमुषा—*सुभा०* श्लोक ९ २।
२. चीरी—*सुभा०* श्लोक ९१२। यह तथा २५वां श्लोक भागवत जयवर्धन के नाम से उद्धृत हुआ है।

[२७]

शङ्खोऽस्थिशेषः स्फुटितो मृतो वा
प्रोच्छ्वास्यतेऽन्यश्वसितेन[1] सत्यम् ।
किन्तूच्चरत्येव न सोऽस्य शब्दः
श्राव्यो[2] न यो यो न सदर्थशंसी[3] ।।

'यह सच है कि शङ्ख जीव विशेष की हड्डी मात्र है, छिद्र आदि करने से टूटा हुआ भी है और निर्जीव है तथा दूसरे की साँस से फूंक लगाने पर ही शब्द करता है परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि वह ऐसा शब्द नहीं करता जो सबको न सुनाई दे और शुभ अर्थ मङ्गल का सूचक न हो' ।

शङ्ख-ध्वनि गंभीर और माङ्गलिक होती है ।

ऊँच-नीच सबके हित की सैद्धान्तिक आवाज उठाना और शुभाशंसी होना मनुष्य के समादर का कारण होता है ।

[२८]

यथापल्लवपुष्पास्ते[4] यथापुष्पफलर्द्धयः ।
यथाफलर्द्धिस्वारोहा हा मातः क्वागमन्द्रुमाः ।।

'जैसे सुघर पत्ते निकले वैसे ही सुघर फूल खिले पुनः फूलों के समान ही सुन्दर और अधिक फल लगे, फलों के अनुसार ही डालियां झुक कर सब के पहुँचने योग्य बन गई—हाय माँ, बताओ तो सही, ऐसे वृक्ष कहाँ चले गये' ?

कवि को खेद है कि जिनका सब कुछ सुन्दर और प्रशंसनीय होता था, वैसे पुरुष-रत्न अब क्यों नहीं पैदा होते ?

---

१. यदुच्छ्वासितेनोच्छ्वसते नु—*सुभा०* श्लोक ९१३ ।
२. श्रव्यो ।
३. सदर्थ० ।
४. यथापल्लवपुष्पाढ्या—*सुभा०* श्लोक ७८५ ।

[२६]

साध्वेव तद्विधावस्य वेधा क्लिष्टो न यद् व्यधात्[1] ।
स्वरूपाननुरूपेण चन्दनस्य फलेन किम् ।।

'सृष्टि के क्लेश में पड़े हुए विधाता ने जो चन्दन के वृक्ष में फल नहीं लगाया, यह अच्छा ही किया । चन्दन की सुगन्ध और शीतलता आदि के अनुकूल यदि फल न लग पाता तो उस फल से लाभ भी क्या था' ?

महान् मनुष्य कोई कार्य एक दम न करे वह अच्छा, पर करे तो अपने सुयश के अनुकूल उसे बृहत् रूप में अच्छे ढंग से करे ।

[३०]

फलितघनविटपविघटितपटुदिनकरमहसि लसति कल्पतरौ ।
छायार्थी कः पशुरपि भवति जरद् वीरुधां प्रणयी ।।

'फलों से युक्त घनी-घनी शाखाओं से सूर्य के तीक्ष्ण ताप को दूर कर देने वाले कल्पवृक्ष के होते हुए, छाया चाहने वाला क्या कोई पशु भी सूखे पुराने पेड़ों के नीचे जाना चाहेगा ? अर्थात् नहीं' ।

धनी मानी उदार दाता को पाकर अन्यत्र याचना करने जाना मूर्खता है ।

---

१. यन्मुधा—सुभा० श्लोक ७८६ ।

[३१]

ग्रथित एव मिथः कृतशृङ्खलै[1]—
विषधरैरधिरुह्य महाजडः ।
मलयजः सुमनोभिरनावृतो[2]
यदत एव फलेन वियुज्यते[3] ।।

चन्दन के वृक्ष में फल न लगने का कारण बताते हुए कवि का कथन है—

'अत्यन्त जड़ प्रकृति का यह चन्दन वृक्ष सदा ही विषैले और एक दूसरे से लिपटे हुए साँपों से गुँथा सा रहता है और इस प्रकार इस में फूल नहीं आते और फल नहीं लगता'।

सुमन शब्द से पुष्प और सुजन दोनों से तात्पर्य है। जो मनुष्य सदा विषधर साँपों जैसे दुष्टों की संगति में रहेगा, सुन्दर खिले फूल के समान सज्जनों की संगति नहीं करेगा, उसे सुयश-सम्पत्ति रूप फल कैसे मिलेगा ?

[३२]

चन्दने विषधरान् सहामहे
वस्तु सुन्दरमगुप्तिमत्कुतः ।
रक्षितुं वद किमात्मगौरवं[4]
सञ्चिताः खदिर कण्टकास्त्वया ।।

'चन्दन के वृक्ष में विषधर साँपों का लिपटा रहना तो समझ में आ जाता है कि जो वस्तु सुन्दर है उसकी रक्षा होनी ही चाहिए किन्तु मैं खैर के वृक्ष से पूछना चाहता हूँ कि क्या तुमने मात्र अपने माने हुए गौरव की रक्षा के लिए स्वयं में काँटे लगा रक्खे हैं' ?

किसी गुणी का ठाठ-बाठ अथवा आत्मरक्षार्थ सेना आदि का संरक्षण समुचित है किन्तु कोई गुण न होते आडम्बर करना अनुचित और मूर्खता है।

---

१. ग्रथित एष मिथः कृतशृङ्खलो—*सुभा०* श्लोक ७६६ ।
२. ०श्रितो ।
३. न युज्यते ।
४. सौष्ठवम्—*सुभा०* श्लोक ७६८ ।

[३३]

यत्किञ्चनानुचितमप्युचितानुबन्धि
किं चन्दनस्य न कृतं कुसुमं फलं वा ।
लज्जामहे भृशमुपक्रमसेव यान्त[१]-
स्तस्यान्तिकं परिगृहीतबृहत्कुठाराः[२] ।।

'थोड़ा बहुत अनुचित कार्य भी उचित कहा जा सकता है जैसे विधाता ने चन्दन में शीतलता और सुगन्ध तो पैदा की किन्तु उसे फूल और फल नहीं दिये। किन्तु, लज्जा इस बात पर लगती है कि लोग चन्दन जैसे वृक्ष को काट डालने के लिए कुल्हाड़ी ले कर उसके समीप जाते हैं'।

शासन आदि में किसी सुधार के लिये आवाज उठाना तो उचित है किन्तु उसे नष्ट कर देने के लिए कमर कसना कहाँ तक उचित है ?

[३४]

लब्धं चिरादमृतवत्किममृत्यवे स्या-
द्दीर्घं रसायनवदायुरुत प्रदद्यात् ।
एतत्फलं यदयमध्वगशापदग्धः
स्तब्धः खलः[३] फलति वर्षशतेन तालः ।।

ताड़ के पेड़ से किसी भी बटोही को छाया नहीं मिलती और उसमें फल बहुत ज्यादा दिनों के बाद लगते हैं। इन दोनों की ओर सङ्केत करते हुए कवि कहता है—

'ताड़ के पेड़ में बहुत वर्षों के बाद फल आने पर क्या वह फल अमृत तुल्य अमरता प्रदान करने वाला होगा अथवा पुराने रसायन की भाँति आयु बढ़ाने वाला होगा जिससे पथिकों से अभिशप्त यह महा अभिमानी दुष्ट ताड़ सौ वर्ष में फलता है'।

किसी कार्य में व्यर्थ ही बहुत विलम्ब नहीं करना चाहिए।

---

१. भृशमुपक्रम एव यातु०—*सुभा०* श्लोक ८०० ।

२. कुठारः ।

३. फलं—*सुभा०* श्लोक ८०५ ।

[३५]

अन्तः कर्कशता बहिश्च घटना मर्माविधैः कण्टकै-
श्छायामण्डलमंस्पृशां तनुभृतामुद्वेजिनी संस्थितिः ।
तन्नामास्तु विधेरिदं विलसितं बर्बूरशाखिन् सखे,
शाखा ते फलशाखिनामपि वृतिः सम्पत्स्यते भूरुहाम् ।।

'हे मित्र बबूल के वृक्ष, तुम्हारे भीतर बड़ी कठोरता है (बबूल की लकड़ी बहुत मजबूत और सख्त होती है) और बाहर मर्म स्थलों को बींध देने वाले कांटे ही कांटे। पुनश्च, तुम्हारी छाया में बैठने वाला मनुष्य या कोई भी जीव घबड़ाया-घबड़ाया सा रहता है कि कहीं असावधानी में कोई कांटा न गड़ जाय। अस्तु, इन सबकी बात तो जाने दो। यह सब ब्रह्मा जी की करनी है, उनमें तुम्हारा क्या दोष किन्तु तुम्हारी शाखाएँ फैल कर फलदार पेड़ों की भी बाढ़ रोकती हैं यह बुरा है।'

विधाता द्वारा की गई विवशता को छोड़ मनुष्य को स्वयं किसी की हानि नहीं करनी चाहिए।

[३६]

एष श्रीमानविरलगुणग्रामणीर्नारिकेल-
श्छाया यस्य प्रभवति चिरं धर्मशान्त्यै प्रजानाम् ।
तेनाम्भोभिः कतिचन जना वासरांस्तर्पयध्वं
दास्यत्येतच्छतगुणमयं वारि मूर्ध्ना दधानः ।।

'बहुत से गुणों वाला यह सुन्दर नारियल का वृक्ष है जिसकी छाया में लोगों को सूर्य के सन्ताप से अच्छी शान्ति मिल जाती है। अतः हे मनुष्यों, इसे कुछ दिन तक जल से सींचते रहो। अनन्तर यह तुम्हारे जल को शिरोधार्य करते हुए सौ गुना अधिक जल तुम को देगा'।

"न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति"। सत्पुरुष किसी के थोड़े से भी उपकार को कभी भी नहीं भूलते और अवसर आने पर सौ गुना लाभ कराते हैं। नारियल का वृक्ष इस का उत्तम दृष्टान्त है।

[३७]

छिन्नस्तप्तसुहृत् स चन्दनतरुर्यस्मै[1] पलाय्यागता

भोगाभ्याससुखासिकाः प्रतिदिनं ता विस्मृतास्तत्र वः ।

दंष्ट्राकोटिविषोल्कया प्रतिकृतं तस्य प्रहर्तुर्न चे-

त्किं तेनैव सह स्वयं न दलशो[2] याताः स्थ भो भोगिनः ॥

'हे सर्पो, तुम्हारे सन्तप्त शरीर को सुख देने वाला तुम्हारा वह मित्र चन्दन का वृक्ष काट डाला गया जहाँ तुम प्रति दिन इधर-उधर से भाग कर आते और सुख से बैठ जाया करते थे। मालूम पड़ता है तुम वहाँ सुख के साथ बैठने की बात एक दम भूल सी गये हो। यदि तुम उस चन्दन वृक्ष के ऊपर कुठार लेकर प्रहार करने वालों का अपने जहरीले दाँतों के विष से प्रतीकार नहीं कर सके तो क्यों नहीं तुम सब भी उनके साथ टोली बाँधकर चले गये। तुम्हारे जैसे कृतघ्नों को अब इन चन्दन वृक्षों के पास रहने का कोई अधिकार नहीं है'।

किसी के उपकारों को भूल जाना सबसे बड़ी कृतघ्नता है।

---

१. यूयं—*सुभा०* श्लोक ८१५।

२. निधनं।

[३८]

सन्तोषः किमशक्तता किमथवा तस्मिन्नसंभावना
लोभो वायमुतानवस्थितिरियं[1] प्रद्वेष एवाथवा ।
आस्तां खल्वनुरूपया सफलया पुष्पश्रिया दुर्विधे
संबन्धोऽननुरूपयापि न कृतः किं चन्दनस्य त्वया ।।

जिसका सर्वाङ्ग सुगन्धित है ऐसे उत्तम चन्दन के वृक्ष में फूल-फल कुछ भी न लगता देखकर सहृदय कवि का मन सदय हो उठा है और वह विधाता से प्रश्न करता है—

'हे दुर्दैव, चन्दन के वृक्ष को सुगन्धित बना कर ही क्या तुमको सन्तोष हो गया अथवा तुम असमर्थ हो गये या उसके प्रति तुम्हारा कोई अनादर का भाव जग गया, अथवा तुमको कुछ लोभ हो आया कि इससे अधिक क्यों व्यर्थ दान करें, अथवा यह तुम्हारे विभाग की अव्यवस्था मानी जाय अथवा उसके साथ सीधा-सीधा तुम्हारा द्वेष ही मान लिया जाय कि तुमने उसके योग्य फल-फूल से तो उसे वञ्चित ही रक्खा, उसकी उत्तम सुगन्ध के अयोग्य भी फल-फूल उसे नहीं दिये'।

किसी व्यक्ति को सब बातों से सौभाग्यशाली पाकर भी किसी एक आवश्यक वस्तु से रहित देख कर सत्पुरुषों और सहृदयों को दुःख होना स्वाभाविक होता है । अथवा संसार में सर्वाङ्ग परिपूर्ण कोई नहीं है ।

१. शोभैवाथ च काननस्थितिरियम्—*सुभा०* श्लोक ८११ ।

[३६]

किं जातोऽसि चतुष्पथे घनतरंच्छायोऽसि[1] किं छायया
युक्तश्चेत्फलितोऽसि किं फलभरैराढ्योऽपि[2] किं संनतः ।
हे सद्वृक्ष, स स्व सम्प्रति सखे शाखाशिखाकर्षण-
क्षोभामोटनभञ्जनानि जनतः स्वैरेव दुश्चेष्टितैः ॥

सद्गुणों से सम्पन्न और स्वभाव से ही सरल किसी व्यक्ति को अनायास सताया जाता देखकर सहृदय को खीझ होना स्वाभाविक है। उसी के फलस्वरूप वृक्ष को उद्देश्य कर कवि कहता है—

'हे भले वृक्ष, तुम किसी एकान्त स्थान में न उत्पन्न हो कर चौराहे पर क्यों उगे ? उगे ही थे तो घनी छाया वाले क्यों हुए ? छायादार भी बने तो फले-फूले क्यों ? और फले भी तो इतने अधिक क्यों फले कि फल-भार से डालियाँ नीचे झुक आईं ? अतः हे मित्र, अब तुम, लोगों से शाखाओं का खींचा जाना, मरोड़ा जाना और तोड़ा जाना आदि दुःख सहन करो क्योंकि यह सब तुम्हारी ही दुश्चेष्टाओं का तो फल है । दूसरा कौन सहेगा' ?

---

१. यज्जातोऽसि चतुष्पथे घनलसच्छायोऽसि —*सुभा०* श्लोक ८१३;
किं जातोऽसि चतुष्पथे घनतरं छन्नोऽसि—*शा० प०* श्लोक ६७१ ।

२. संयुक्तः फलितोऽसि किं यदि फलैः पूर्णोऽसि—*सुभा०*; छन्नश्चेत्फलितोऽसि०—*शा० प०* ।

उक्त पाठान्तर के साथ यह सुभा० और *शा० प०* में भदन्तज्ञानवर्मा के नाम से उद्धृत है ।

[४०]

सन्मूलः प्रथितोन्नतिर्घनलसच्छायः स्थितः सत्पथे
सेव्यः सद्भिरितीदमाकलयता तालोऽध्वगेनाश्रितः ।
पुंसः शक्तिरियत्यसौ सफलता[1] त्वद्याथवा श्वोऽथवा
काले क्वाप्यथवा कदाचिदथवा न त्वेव[2], वेधाः प्रभुः ।।

पुरुष को चाहिए कि फल की आशा छोड़ कर भले आदमी की संगति अथवा सेवा करे । फल मिलना तो दैवाधीन है । पुरुष की शक्ति में इतना ही है कि वह देख ले कि जिसका आश्रय वह लेना चाहता है वह संस्था या सत्पुरुष नामी, उन्नतिशील, बहुतों को आश्रय देने में समर्थ, सत्पथ पर आरूढ़ और सज्जनों से सुसेवित है । उसके द्वारा उसे अधिक सफलता मिले या न मिले यह विधाता के अधीन है । इसी बात को ताड़ के वृक्ष के माध्यम से प्रस्तुत करते हुए भल्लट कवि कहते हैं—

'किसी पथिक ने ताड़ के पेड़ के नीचे फल खाने की इच्छा से नहीं—क्योंकि उसमें तो बहुत ही दिन बाद फल लगते हैं—बल्कि यह देखकर कि उसकी जड़ मजबूत है (आँधी-पानी से गिरेगा नहीं), ऊँचा भी खूब है, छाया भी अच्छी है और अच्छे रास्ते पर लगा है तथा अच्छे लोग वहाँ ठहरते भी आये हैं—अपना पड़ाव डाला । पुरुष का पौरुष इतना विचार कर लेने भर का ही है । सफलता आज मिले अथवा कल, अथवा किसी भी समय मिले, अथवा संशय में ही पड़ी रह जाय या फिर एक दम न मिले । इस विषय में "वेधाः प्रभुः" विधाता ही प्रभु हैं ।'

---

१. स तु फलेदद्या०—*सुभा०* श्लोक ८१२ ।

२. नेत्यत्र ।

[४१]

त्वन्मूले पुरुषायुषं गतमिदं गात्रेण संशुष्यता[१]
क्षोदीयांसमपि क्षणं परमतः शक्तिः कुतः प्राणितुम् ।
तत्स्वस्त्यस्तु विवृद्धिमेहि महतीमद्यापि का नस्त्वरा
कल्याणैः फलितासि तालविटपिन् पुत्रेषु पौत्रेषु वा ।।

ताड़ के पेड़ में संभवतः सौ वर्ष बाद फल लगता है । पेड़ लगाने वाला फल की आशा करते-करते मरने को आ गया पर फल नहीं दिखाई पड़ा -- इसी तरह किसी की सेवा-टहल में किसी ने पूरी जिन्दगी कठिनाई के साथ विता दी पर स्वामी ने उसे कोई उचित पुरस्कार या द्रव्यराशि नहीं दी जिससे कातर हो कर वह अपने उद्‌गार प्रकट करते हुए कहता है---सरकार, तुम्हारी खूब बढ़ती हो, हमारी तो जिन्दगी वीत गई कुछ न मिला, संभव है मेरे नाती पोतों का ही आपके द्वारा कुछ लाभ हो । श्लोक बड़ा मार्मिक है । शब्दावली ताड़ वृक्ष की है, भाव सामाजिक--

'हे ताड़ के विटप, तुम्हारी जड़ों के पास मेरे सूखते शरीर के सौ साल वीत चले जो कि व्यक्ति की पूर्णायु मानी गई है । इसके बाद तो अब मुझमें एक क्षण भी और जी सकने की शक्ति शेष नहीं है । अव तो तुम्हारे लिए मेरी मंगल कामना है कि तुम्हारी खूब बढ़ती हो । मुझे अब कोई जल्दी नहीं है । तुम मेरे पुत्रों और पौत्रों को शुभ फल देना' ।

---

१. कालेन संशुष्यताम्---*सुभा०* श्लोक ८१६ ।

[४२]

पश्यामः किमयं प्रपद्यत[1] इति स्वल्पाभ्रसिद्धिक्रियै-

र्दर्पाद्दूरमुपेक्षितेन बलवत्कर्मेरितैर्मन्त्रिभिः ।

लब्धात्मप्रसरेण रक्षितुमथाशक्तेन[2] मुक्त्वाशनिं

स्फीतस्तादृगहो[3] घनेन रिपुणा दग्धो गिरिग्रामकः ।।

'कुछ अधूरे तान्त्रिकों ने उत्सुकता अथवा कुतूहलवश— कि देखें क्या होता है तन्त्र-मन्त्रों द्वारा वर्षा कराने का प्रयोग— अनुष्ठान प्रारम्भ तो किया किन्तु किसी अन्य वड़े कार्य से प्रेरित होकर उस अनुष्ठान की उपेक्षा कर दी । उधर उस प्रारब्ध अनुष्ठान से मेघों का ऐसा दल उमड़ा जो इन लोगों से रोका न जा सका जिस का फल यह हुआ कि कुपित मेघों ने अन्त में वज्र गिरा कर हरे-भरे लहलहाते हुए छोटे से पहाड़ी गाँव को ध्वस्त कर दिया' ।

किसी भी उद्देश्य से कोई आन्दोलन तभी प्रारम्भ करना चाहिए जब उसको रोकने की भी शक्ति अपने में हो और धीरज भी इतना हो कि बीच में ही उसे न छोड़ बैठे ।

---

१. विचेष्टत— सुभा० श्लोक ८४७

२. शक्येन ।

३. तावदहो ।

[४३]

साधूत्पातघनौघ साधु सुधियां ध्येयं धरायामिदं
कोऽन्यः कर्तुमलं तवैव घटते कर्मेदृशं दुष्करम् ।
सर्वस्यौपयिकानि यानि कतिचित्क्षेत्राणि तत्राशनिः
सर्वानौपयिकेषु दग्धसिकतारण्येष्वपां वृष्टयः ।।

'हे उत्पाती मेघ, तुमने बहुत ही अच्छा किया। भूमण्डल पर के सभी भले आदमी तुम्हारी इस बात पर ध्यान देंगे, तुमको छोड़ दूसरा और कौन इतना दुष्कर कार्य करेगा कि समस्त जन साधारण के लिये उपयोगी कुछ क्षेत्रों में तो तुमने वज्रपात किया, पत्थर और ओले बरसाये किन्तु दग्धस्थली और मरुस्थल में जो किसी के लिए भी उपयोगी नहीं हैं तुमने घोर जल वृष्टि की'।

अविवेकियों के लिए कितना मीठा उलाहना है।

[४४]

लब्धायां तृषि गोमृगस्य विहगस्यान्यस्य वा कस्यचि-
द्वृष्ट्या स्याद्भवदीययोपकृतिरप्यास्तां दवीयस्यदः ।
अस्यात्यन्तमहाजलस्य जलदारण्योषरस्यापि किं
जातं पश्य पुनः पुरेव परुषा सैवास्य दग्धा छविः

मेघों के लिए ही दूसरा उपालम्भ—

'हे जलद, तुम उन स्थलों पर वर्षा करते जहाँ गौ, मृग, पक्षी अथवा अन्य लोगों की प्यास बुझती और तुम्हारा उपकार माना जाता। किन्तु यह बात तो बहुत दूर रही। तुम समुद्र और ऊसर पर बरसे जहाँ जाकर देखो तो पता चले कि उनकी पूर्वावस्था में कोई अन्तर नहीं आया, वही भयानक और रूखी-सूखी छवि'।

[४५]

सन्त्यज्य पानाचमनोचितानि
तोयान्तराण्यस्य सिसेविषोस्त्वाम् ।
निर्जैर्न जिह्रेषि जलैर्जनस्य
जघन्यकार्योपयिकैः पयोद ।।

'पीने और आचमन करने योग्य अन्य जलों को छोड़ कर जो केवल तुम्हारा जल पीने वाले सेवक हैं उनके लिये वृष्टि न कर खारेपन के कारण अपेय जल वाले समुद्र आदि पर वर्षा कर हे मेघ, तुमको अपने जल पर लज्जा नहीं आती'?

[४६]

आस्त्रीशिशुप्रथितयैष पिपासितेभ्यः
संरक्ष्यतेऽम्बुधिरपेयतयैव दूरात् ।
दंष्ट्राकरालमकरालिकरालिताभिः
किं भाययत्य[1]परमूर्मिपरम्पराभिः ।।

'स्त्रियों से लेकर बच्चों तक यह बात प्रसिद्ध है कि समुद्र का जल अपेय है इस लिए प्यासे लोग स्वयं ही समुद्र से दूर रहते हैं किन्तु इतने पर भी न मालूम क्या समझ कर वह भयानक दाढ़ों वाले मगर-मच्छों से भयानक लगने वाली अपनी लहरों से लोगों को डरवाता रहता है'।

दुष्ट किसी का उपकार भी नहीं करते और व्यर्थ में लोगों को आतङ्कित भी करते रहते हैं।

---

१. भाययस्य०—सुभा० श्लोक ८६८।

[४७]

स्वमाहात्म्यश्लाघागुरुगहनगर्जाभिरभितः
क्रुशित्वा पुष्णासि[1] श्रुतिकुहरमब्धे किमिति नः ।
इहैकश्चूडालो ह्यजनि[2] कलशादस्य सकलैः
पिपासोरम्भोभिश्चुलकमपि नाहर्तुमशकः[3] ।।

अगस्त्य ऋषि ने एक चिल्लू में ही सारा समुद्र जल पी लिया था यह पौराणिक आख्यान है ।

'चारों ओर अपने महिमा की प्रशंसा में गौरवमयी गम्भीर गर्जना करते हुए हे समुद्र, तुम मेरे कानों के पर्दों को क्यों फाड़े डाल रहे हो ? तुम तो अपने समस्त जल से भी, घड़े से उत्पन्न उस एक प्यासे जटिल तपस्वी का, चिल्लू तक नहीं भर सके' ।

घमण्ड बुरी वस्तु है ।

[४८]

सर्वासां त्रिजगत्यपामियमसावाधारता तावकी
प्रोल्लासोऽयमथो[4] तवाम्बुनिलये केयं महासत्त्वता ।
सेवित्वा बहुभङ्गभीषणतनुं त्वामेव वेलाचल-
ग्रावस्रोतसि पाप-तापकलहो यत् क्वापि निर्वाप्यते ।।

किसी समुद्रतट के प्रेमी व्यक्ति की उक्ति है—

'अहो समुद्र, तुम तीनों लोकों के जल को अपने में धारण करने की अद्भुत शक्ति रखते हो, तुम्हारे भीतर कितना उल्लास है कि तुम अहर्निश गर्जन करते रहते हो और तुम्हारी जलराशि में कितना गाम्भीर्य है । अतः अनन्त लहरों से भीषण लगते हुए तुम्हारे शरीर की सेवा कर अर्थात् तुममें स्नान कर मैं तुम्हारे ही किनारे के पर्वत के पथरीले सोते के समीप बैठ कर पाप और संताप के कलह को शान्त कर रहा हूँ' ।

---

१. कुषित्वा क्लिश्नासि—*सुभा०* श्लोक ८७७ ।
२. अभ्यजनि ।
३. नो भर्त्तुमशकः ।
   सुभा० में पूर्व उत्तर भाग का व्यत्यय (उलट-फेर) है ।
४. असौ—*सुभा०* श्लोक ८७९ ।

[४६]

नोद्वेगं यदि यासि यद्यवहितः कर्णं ददासि क्षणं
त्वां पृच्छामि यदम्बुधे किमपि तन्निश्चित्य देह्युत्तरम् ।
नैराश्यातिशया[1]तिमात्रमनिशं निःश्वस्य यद् दृश्यसे
तृष्यद्भिः पथिकैः कियत्तदधिकं स्यादौर्वदाहाद्वतः ॥

'हे समुद्र, यदि तुम घबड़ा न जाओ और क्षण भर के लिए सावधान होकर मेरी बात सुन सको तो मैं तुमसे एक प्रश्न पूछ रहा हूँ जिसका तुम सोच समझ कर निश्चित उत्तर दो । प्रश्न है—

प्यासे-प्यासे पथिक निराशा भरे नयनों से तुन्हें देख कर जो गहरी गरम-गरम साँस अहर्निश छोड़ते हैं अर्थात् आहें भरते हैं उसका दाह तुम्हारे बडवानल के दाह से कितना अधिक है' ।

निराश की आहों में अग्नि से अधिक ऊष्मा होती है ।

[५०]

ग्रावाणो मणयो हरिर्जलचरो लक्ष्मीः पयोमानुषो[2]
मुक्तौघाः सिकताः[3] प्रवाललतिकाः शैवालमम्भः सुधा ।
तीरे कल्पमहीरुहाः किमपरं नाम्नापि[4] रत्नाकरो
दूरे कर्णरसायनं निकटतस्तृष्णापि नो शाम्यति ॥

'पर्वत, मणियाँ, श्रीविष्णु, नाना प्रकार के जलचर जीव, लक्ष्मी जी, क्षीरसागर, धन्वन्तरि वैद्य, मोतियों का ढेर, बालू, मूँगे की लताएँ, सेंवार, जल, अमृत, तटवर्ती कल्प वृक्ष इतनी चीजें तो तुम्हारे पास हैं और अत्यधिक क्या कहा जाय, तुम्हारा नाम ही रत्नाकर है परन्तु यह सब दूर से तो सुनने में कानों को बहुत अच्छा लगता है किन्तु पास आने पर तो तुम प्यास भी नहीं बुझा पाते' ।

"नाम बड़ेरे, दर्शन थोड़े"

---

१. नैराश्यानुशया—*सुभा०* श्लोक ८८५ ।
२. मानुषो—*सुभा०* श्लोक ८६४ ।
३: मुक्तौघः सिकता ।
४. नामापि० ।
सुभा० में यह श्लोक किसी अज्ञात कवि के नाम से उद्धृत है ।

[५१]

भिद्यतेऽनुप्रविश्यान्तर्यो यथारुच्युपाधिना ।
विशुद्धिः कीदृशी तस्य जडस्य स्फटिकात्मनः ।।

अपनी पारदर्शिता और उज्ज्वलता के लिए स्फटिक की प्रसिद्धि है और उसे अत्यन्त पवित्र एवं शुद्ध माना जाता है। किन्तु, उसके समीप जिस किसी भी रंग का पदार्थ रखा जायेगा वैसा ही रंग स्फटिक का भी हो जायेगा। कवि का कथन है—

'जिसके भीतर प्रविष्ट होकर जो चाहे वही उसे अपने रंग में रंग ले तो ऐसे जड़ स्फटिक में शुद्धता कैसी' ?

मनुष्य का अपना कोई एक रूप, एक सिद्धान्त न हो तो वह मनुष्य जीवन या व्यवहार में शुद्ध कैसे रह सकता है ? बात-बात में बदल जाना, दूसरों के प्रभाव में आ जाना पुरुषोत्तम के लिए शोभा नहीं देता।

[५२]

चिन्तामणे भुवि न केनचिदीश्वरेण
मूर्ध्ना धृतोऽहमिति मा स्म सखे[1] विषीदः ।
नास्त्येव हि त्वदधिरोहणपुण्यबीज[2]-
सौभाग्ययोग्यमिह कस्यचिदुत्तमाङ्गम् ।।

चिन्तामणि वह मणि है जो कल्पवृक्ष और कामधेनु की तरह मन-चाहा फल देने वाली है। उसे दृष्टि-पथ में लाकर कवि की उक्ति है—

'हे सखे चिन्तामणि, यदि किसी धनी मानी ने तुझे शिरोधार्य नहीं किया तो तू इसके लिए खेद मत कर। तुमको तो यह समझना चाहिए कि किसी का उत्तमाङ्ग अर्थात् शिर तुमको धारण कर सकने योग्य पुण्य और सौभाग्य से संयुक्त है ही नहीं'।

किसी विद्वान् या गुणी को उत्तम स्थान न पाकर ग्लानि नहीं करनी चाहिए। उसे अपने सत्पथ पर प्रवृत्त रहना चाहिए और सोचना चाहिए कि उस देश-काल में उसकी योग्यता का पारखी ही नहीं है।

---

१. धृतोऽसि यदि मा स्म ततो—*सुभा०* श्लोक ६०२।
२. त्वदधिरो१णपुण्यबीजं।

[५३]

संवित्तिरस्त्यथ गुणः प्रतिभान्ति लोके
तद्धि प्रशस्यमिह कस्य किमुच्यतां वा ।
नन्वेवमेव सुमणे लुठ यावदायु-
स्त्वं मे जगत्प्रहसनेऽत्र कथाशरीरम् ।।

मानदाताओं से अनादर पा कर कोई गुणी पुरुष किसी अयोग्य स्थान में पड़ी सुन्दर बहुमूल्य मणि से अपने को एकाकार कर कहता है—

'हे सुन्दरमणि, क्या तुमको यह ज्ञान है कि लोक में गुण प्रकाशमान् होकर ही रहते हैं। यह ज्ञान और अनुभव ही प्रशंसनीय है। कोई आदर या अनादर करता है तो यह व्यक्ति की अपनी योग्यता अयोग्यता है। इसके विषय में किसी को क्या कहा-सुना जाय, अतः हे सुमणि, तुम इसी प्रकार प्रकाशमान् रहते हुए जीवन पर्यन्त इस प्रहसनात्मक जगत् में स्थिर रहो और अन्त में "कथा शेष" हो जाओ। मरने पर लोगों की कहानी ही तो रह जाती है'।

इस श्लोक से कवि का आत्मवृत्त ज्ञात होता है। उसके अन्तर्द्वन्द्व की इसमें अभिव्यक्ति हुई है।

इस प्रसङ्ग में भारवि का श्लोक (११।३४) स्मरणीय है—

श्वस्त्वया सुखसंवित्तिः स्मरणीयाधुनातनी ।
इति स्वप्नोपमान् मत्वा कामान् मा गास्तदङ्गताम् ।।

[५४]

चिन्तामणेस्तृणमणेश्च कृतं विधात्रा
केनोभयोरपि मणित्वमदः समानम् ।
नैकोऽर्थितानि ददर्दाथिजनान्न खिन्नो
गृह्णञ्जरत्तृणलवं तु न लज्जतेऽन्यः ।।

चिन्तामणि से कामधेनु और कल्पवृक्ष के समान ही यथेच्छ फल की प्राप्ति होती है और तृणमणि वह घास है जो आस-पास की घासों और पौधों को जला कर नष्ट कर देती है। किन्तु मणि दोनों ही हैं। कवि इसी प्रसङ्ग में कहता है—

'अरे किस विधाता ने चिन्तामणि और तृणमणि में मणित्व की समानता कर दी, जब कि गुणों में आकाश पाताल सा अन्तर है। एक तो याचकों को दान देते-देते नहीं थकता और दूसरा सूखे तिनकों के टुकड़े जैसे तुच्छ पदार्थ को भी लेते हुए लज्जित नहीं होता'।

[५५]

दूरे कस्यचिदेव कोऽप्यकृतधीर्नैवास्य वेत्त्यन्तरं
मानी कोऽपि न याचते मृगयते कोऽप्यल्पमूल्याशयः ।
इत्थं प्रार्थितदानदुर्व्यसनिनो नौदार्यरेखोज्ज्वला
जाता नैपुणदुस्तरेषु निकषस्थानेषु चिन्तामणेः ।।

'किसी के लिए चिन्तामणि दुर्लभ है और कोई ऐसा नासमझ है कि उसके महत्त्व को ही नहीं जानता, कोई इतना अभिमानी है कि उसके पास माँगने ही नहीं जाता, कोई सङ्कीर्ण हृदय का अर्थात छोटे दिल का है तो वह वहुत थोड़ा माँगता है। इस माँगी गई वस्तु के दान देने के दुर्व्यसनी (शौकीन) चिन्तामणि की उदारता की रेखा कसौटी की कुशलता के अभाव में नहीं स्पष्ट हो पाई'।

चिन्तामणि कितना अधिक उदार है, क्या दे सकता है क्या नहीं दे सकता इसका पारखी मिलना ही कठिन हो रहा है।

अत्यन्त उदार व्यक्ति की उदारता का पता पाना कठिन होता है।

[५६]

परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो
यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः ।
न सम्प्राप्तो वृद्धिं यदि स भृशमक्षेत्रपतितः
किमिक्षोर्दोषोऽयं[1] न पुनरगुणाया मरुभुवः ।।

'जो परोपकार के लिए ही पीड़न (पेरा जाना) सहन करता है। टुकड़ा-टुकड़ा तोड़ने पर भी जो मधुर वना रहता है, मीठा रस देता है और जिसका समस्त विकार गुड़, खांड़, चीनी आदि मनुष्य, पशु, वालक, युवा, वृद्ध सभी को प्रिय लगता है यदि ऐसा ईख खराब खेत में पड़ने से नहीं बढ़ सका तो क्या यह ईख का दोष है और उस निर्गुण मरुभूमि का नहीं' ?

कुसंगति के प्रभाव से किसी सत्पुरुष की अवनति का कितना मार्मिक उदाहरण है।

यह विवक्षित वाच्य भेद वाली अप्रस्तुत प्रशंसा का उदाहरण है और आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा ध्वन्यालोक में दो वार उद्धृत हुआ है।

---

१. दोषोऽसौ—*सुभा०* श्लोक ८४७ एवं *शा०* प० १०५२।
यह श्लोक *शा०* प० में इन्दुराज के नाम से और *सुभा०* में यशस् के नाम से उद्धृत है किन्तु निश्चित रूप से यह भल्लट का ही है।

[५७]

आम्राः किं फलभारनम्रशिरसो रम्याः किमूष्मच्छिदः
सच्छायाः कदलीद्रुमाः सुरभयः किं पुष्पिताश्चम्पकाः ।
एतास्ता निरवग्रहोग्रकरभोल्लीढार्धरूढाः[1] पुनः
शम्यो भ्राम्यसि मूढ निर्मरुति किं मिथ्यैव मर्तुं मरौ ।।

कोई मूर्ख आम आदि अच्छे फल और छाया वाले वृक्षों की आशा से मरुस्थल में घूम रहा है। उसे सम्बोधित कर कवि की उक्ति है—

'अरे मूर्ख, फलों के भार से झुकी हुई शाखाओं वाले क्या ये मनोहर आम के वृक्ष हैं ? अथवा ऊष्मा को दूर कर शीतल छाया प्रदान करने वाले कदली (केला) के वृक्ष हैं ? अथवा सुगन्धित फूलों वाले चम्पे के पेड़ हैं ? अरे ये तो स्वतन्त्र, बिना बन्धन के घूमने वाले ऊँटों से चर लिये जाने के बाद पुनः आधे बढ़े हुए शमी के वृक्ष हैं। फिर तुम क्यों व्यर्थ में मरने के लिए इस वायु-सञ्चार-शून्य मरुस्थल में चक्कर काट रहे हो' ?

[५८]

आजन्मनः कुशलमण्वपि रे[2] कुजन्म-
न्पांसो त्वया यदि कृतं वद तत्त्वमेव[3] ।
उत्थापितोऽस्यनलसारथिना यदर्थं
तुष्टेन[4] तत्कुरु कलङ्कय विश्वमेतत् ।।

'हे कुजन्मा धूलि, क्या जन्म से लेकर अब तक कभी भी तुमने कोई अच्छा काम किया है ? यदि किया है तो मुझे बताओ। अग्नि के सहायक वायु से प्रसन्नता के साथ उठाये गये तुम अब जाओ और संसार को काला-मैला बनाने का काम करो'।

कलुषित कर्म में सदा ही लीन रहन वालों का सुधार असम्भव होता है।

---

१. लीढावरूढाः—सुभा० श्लोक ९५० ।
२. ते—सुभा० श्लोक ९८६ ।
३. तत्त्वमेतत् ।
४. दुष्टेन ।

५

[५९]

निःसाराः सुतरां लघुप्रकृतयो योग्या न कार्ये क्वचि-
च्छुष्यन्तोऽद्य जरत्तृणाद्यवयवाः प्राप्ताः स्वतन्त्रेण ये ।
अन्तःसारपराङ्मुखेण धिगहो ते मारुतेनामुना
पश्यात्यन्तचलेन सद्म[1] महतामाकाशमारोपिताः ।।

'निःसार, अत्यन्त छोटी प्रकृति के, किसी भी कार्य के योग्य नहीं ऐसे उन सूखते हुए पुराने तिनकों के टुकड़ों को - जो कि यों ही पड़े मिल गये हैं—भीतरी तत्त्व की परीक्षा से विमुख इस अत्यन्त चञ्चल वायु ने उठा कर चन्द्र, सूर्य आदि महान् वस्तुओं के आगार आकाश में पहुँचा दिया है' ।

योग्यों के रहते हुए अयोग्यों को अत्यन्त उच्च पद पर उन्नत कर देने वाले कुशासन के लिए यह तीखा व्यङ्ग्य है ।

[६०]

ये जात्या लघवः सदैव गणनां याता न ये कुत्रचि-
त्पद्भ्यामेव विमर्दिताः प्रतिदिनं भूमौ निलीनाश्चिरम् ।
उत्क्षिप्ताश्चपलाशयेन मरुता पश्यान्तरिक्षेऽधुना[2]
तुङ्गानामुपरि स्थितिं क्षितिभृतां कुर्वन्त्यमी पांसवः ।।

'जो स्वभाव से ही लघु रहे, कहीं किसी गिनती में न रहे, पैरों से ही रौंदे गये, प्रतिदिन भूमि में ही विलीन होते रहे, उन्हीं धूलि के कणों को इस चञ्चल वायु ने आकाश में ऊपर उठा दिया है जिससे ये ऊँचे पहाड़ पर चढ़े बैठे हैं' ।

वायु के इस अविवेक को क्या कहा जाय ?

---

१. वर्त्म—*सुभा०* श्लोक १०१० ।

२. सखे—*सुभा०* श्लोक १०११ ।

[६१]

हे[1] दन्दशूक, तदयोग्य[2]मपीश्वरस्त्वां
वात्सल्यतो[3] नयति नूपुरधाम सत्यम् ।
आर्वाजितालिकुलझङ्कृति[4]र्मूच्छितानि
किं शिञ्जितानि भवता क्षमतेऽत्र[5] कर्त्तुम् ।।

'हे सर्प, यद्यपि तुम इसके योग्य नहीं हो तथापि यह एक सत्य बात है कि भगवान् शङ्कर ने अपने वात्सल्य भाव के कारण तुमको आभूषण के रूप में नूपुर की तरह ग्रहण कर लिया है, किन्तु यह तो बताओ कि क्या तुम भ्रमरों को आकृष्ट कर लेने वाला मधुर नूपुर का शब्द कर सकते हो' ?

किसी करुणाकर की कृपा से कोई ऊँचे पद पर भले ही बैठ जाए किन्तु निजी गुण के अभाव में उसकी समता गुणियों से कैसे की जा सकती है ?

[६२]

कल्लोलवेल्लितदृषत्परुषप्रहारैः
रत्नान्यमूनि मकरालय मावमंस्थाः ।
किं कौस्तुभेन विहितो भवतो न नाम
याच्ञा प्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि[6] ।।

'हे समुद्र, तुम अपनी तरङ्गों से उठाए गये पत्थरों के कठोर प्रहार से इन उत्तम-उत्तम रत्नों का अनादर मत करो। क्या तुम्हारी कौस्तुभ मणि के कारण ही पुरुषोत्तम विष्णु ने तुम्हारे आगे भिखारी जैसा हाथ नहीं फैलाया था' ?

यहाँ समुद्र के लिये यह सन्देश है कि एक रत्न से जब तुमको इतने महान् गौरव की प्राप्ति हुई है तब तुमको अन्य रत्नों का अनादर नहीं करना चाहिए ।

यहाँ अर्थसङ्गति की उत्तमता की दृष्टि से काव्यप्रकाशकार ने तृतीय चरण को—"एकेन किं न विहितो भवतः स नाम" के रूप में परिवर्तित किया है ।

---

१. रे—*सुभा०* श्लोक ९७४ ।
२. तदयुक्त० ।
३. वाल्लभ्यतो ।
४. सत्कृति ।
५ भवतः क्षम एष ।
६. *सुभा०* ८६६ में यह श्लोक भागवत त्रिविक्रम के नाम से उद्धृत है और पूर्वार्ध के प्रथम द्वितीय पाद का व्यत्यय है ।

[६३]

मौलौ सन्मणयो, गृहं गिरिगुहा, त्यागः किलात्मत्वचो
निर्यत्नोपनतैः स्व[1]वृत्तिरनिलैरेकत्र चर्यदृशी ।
अन्यत्रानृजु वर्त्म, वाग्द्विरसना, दृष्टौ विषं दृश्यते
यादृक्तामनु दीपको ज्वलति नो[2] भोगिन् सखे किं न्विदम् ।।

'हे सखे सर्प, मैं तुमसे यह पूछना चाहता हूँ कि तुम्हारी यह दोरंगी चाल क्यों है ? एक ओर तो मस्तक पर उत्तम मणि धारण करते हो, ऋषि-मुनियों की तरह पर्वत की कन्दराओं में रहते हो, त्याग के नाम पर अपने शरीर की त्वचा तक का त्याग कर देते हो (साँप का केंचुल छोड़ना से तात्पर्य है) और जीविका के लिए वायु पी कर रह जाते हो किन्तु दूसरी ओर टेढ़ी-मेढ़ी चाल, वाणी दो जीभों वाली और दृष्टि में इतना विष कि उसके सामने दीपक बुझ जाता है' ।

बाहरी आडम्बर दूसरा, भीतरी दूसरा, बातों का ठिकाना नहीं--ऐसे दुष्टों की प्रकृति का कैसा सुन्दर चित्रण किया गया है ।

[६४]

भूयांस्यस्य मुखानि नाम, विदितैवास्ते महाप्राणता[3]
कद्र्वाः सत्प्रसवोऽपि यत्र[4] कुपिते चिन्त्यं यथेदं जगत् ।
त्रैलोक्याद्भुतमीदृशं तु चरितं शेषस्य येनास्य सा
प्रोन्मृज्येव निर्वातिना विषधरज्ञातेय[5]दुर्वर्णिका ।।

बहुत से तो इनके मुख हैं, पृथ्वी को धारण किये हुए हैं जिससे इनकी महाप्राणता अर्थात् अतुल शक्ति ज्ञात ही है । कद्रू की उत्तम सन्तान हैं, और यह कुपित हो जायें तो संसार की स्थिति चिन्तनीय हो उठे अर्थात् क्रोध में शिर हिला देती सारी पृथ्वी उलट-पलट हो जाय । इस तरह तीनों लोकों के प्राणियों से अद्भुत इनका चरित है । अतः एव ही लोगों ने इनका जातीय विषधर इत्यादि दुष्ट वर्णों वाला नाम शुद्ध कर "शेष" रख दिया है ।

मनुष्य में कोई अद्भुत विशेषता हो तो उसका बुरा नाम आदि अपने आप बदल जाता है ।

---

१. च—*सुभा०* श्लोक १००४ ।

२. किं ।

३. महासत्त्वता—*सुभा०* श्लोक १००५ ।

४. प्राक्प्रसवोऽयमत्र ।

५. विषधरज्ञानेऽपि ।

[६५]

लोके समस्त एवैकः श्लाघ्यः कोऽप्येष वासरः ।
जनैर्महत्तया नीतो यो न पूर्वैर्न चापरैः ।।

'मनुष्य के जीवन में वही कोई एक दिन प्रशंसनीय समझना चाहिए जिस दिन वह कोई एक ऐसा असाधारण काम कर सके जैसा किसी ने भी न किया हो या कर सके' ।

एक भी लोकोत्तर कार्य कर सकने में ही मानव जीवन की सार्थकता है अन्यथा भोजन, शयन, मैथुन आदि की दृष्टि से उसके और पशु के जीवन में क्या अन्तर होगा ?

[६६]

आबद्धकृत्रिमसटाजटिलांसभित्ति-
रारोपिता मृगपतेः पदवीं यदि श्वा ।
मत्तेभकुम्भतटपाटनलम्पटस्य
नादं करिष्यति कथं हरिणाधिपस्य ।।

'यदि किसी कुत्ते को सिंह की गर्दन के नकली बालों से संवार कर उसके पुठ्ठों को ऊँचा कर दिया जाय और उसे सिंह की पदवी दे भी दी जाय तो क्या वह मतवाले हाथियों के गण्डस्थल को विदीर्ण करने के व्यसनी सिंह के जैसा गर्जन कर सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं' ।

बड़ों से बराबरी करने की दृष्टि से यदि कोई अपना बाहरी ठाठ-बाठ वैसा बना भी ले तो क्या इतने से ही वह उनके असाधारण गुण को भी पा जायगा ?

इस श्लोक में अप्रस्तुत कुत्ते का वृत्तान्त वाच्यार्थ है और उससे समानता के कारण प्रस्तुत रूप में ऐसे आदमी के आचार की निन्दा है जो मूर्ख होते हुए भी धोखा धड़ी से विद्वान् का पद ले बैठा है। **कुवलयानन्द** में यह अप्रस्तुत प्रशंसा का उदाहरण है ।

[६७]

किमिदमुचितं शुद्धेः श्लिष्टं स्वपक्ष[1]समुन्नतेः
फलपरिणतेर्युक्तं प्राप्तं गुणप्रणयस्य वा[2]।
क्षणमुपगतः कर्णोपान्तं परस्य पुरः स्थिता-
न्विशिख निपतन् क्रूरं दूरान्नृशंस भिनत्सि[3] यत् ।।

वाण का प्रसङ्ग ला कर यहाँ चुगलखोर की निन्दा की गई है।

चुगलखोर किसी अधिकारी या बड़े आदमी के पास पहुँच कर चुपके से उसके कान के समीप किसी के विरुद्ध ऐसी झूठ सच बातें कहता है जिससे वह अधिकारी या प्रभुतासम्पन्न पुरुष उस अधीनस्थ कर्मचारी या सम्बन्धित व्यक्ति की वहुधा बड़ी हानि कर बैठता है। वाण को भी धनुष पर चढ़ाते समय गुण अर्थात् प्रत्यश्चा धनुष की डोर पर रख कर कान तक खींचा जाता है और तब छोड़ा जाता है जिससे वह लक्ष्य मृग आदि का प्राण हर लेता है।

वाण सीधी शुद्ध लकड़ी का वना होता है उस में गति की तीव्रता के लिए पक्ष (पंख) लगे होते हैं, अग्रभाग पर लोहे का फल और अर्थात् प्रत्यश्चा का संयोग रहता है।

'हे विशिख अर्थात् वाण, क्या यह तुम्हारी वंश "विशुद्धि" के अनुकूल है ? क्या इसकी संगति तुम्हारी "पक्षसमुन्नति" से होती है ? क्या यह तुम्हारे अन्त भाग में लगे लोहे के फल से मेल खाता है ? क्या यह तुम्हारे गुण (प्रत्यश्चा) प्रेम के अनुकूल है ? कि नृशंस अर्थात् क्रूर तुम क्षण भर के लिए कान के समीप पहुँच कर सामने आये बैठे हुए पर दूर से ही गिर कर उसे बींध या मार डालते हो' ?

---

१. स्पष्टं सपक्ष०—सुभा० श्लोक ६९६।

२. प्राप्तुं गुणप्रणयस्य ते।

३. निहंसि।

[६८]

अमी ये दृश्यन्ते ननु सुभगरूपाः सफलता
भवत्येषां यस्य क्षणमुपगतानां विषयताम् ।
निरालोके लोके कथमिदमहो चक्षुरधुना
समं जातं सर्वैर्न सममथवान्यैरवयवैः ।।

आलोक का तात्पर्य है प्रकाश और विवेक एवं निरालोक का अन्धकार और अविवेक । वर्णन चक्षु अर्थात् नेत्र का है और सङ्केत विवेक-शून्य-जीवन की व्यर्थता का ।

'संसार में ये जितने भी मनोहर दृश्य दृष्टिगोचर हो रहे हैं उनकी सफलता तभी है, जब वे नेत्रों के विषय बनें, अर्थात् नेत्रों से देखे जायें । इस तरह नेत्रों की इतनी महत्ता होते हुए भी अन्धकार से आच्छन्न संसार में अथवा नेत्रों की ज्योति क्षीण हो जाने पर, ये नेत्र व्यर्थ हो जाते हैं और हाथ पैर आदि तुच्छ इन्द्रिय अथवा अवयवों की समता में आ जाते हैं अथवा हाथ पैर तो अन्धकार में भी स्पर्श और ग्रहण शक्ति आदि से सम्पन्न रहते हैं, नेत्र तो अन्धकार में एक दम व्यर्थ हो जाते हैं अथवा नेत्र-नेत्र ही हैं उनकी समता अन्य अवयवों एवम् इन्द्रियों से नहीं की जा सकती' ।

यह आनन्दवर्धनाचार्य का श्लोक है । इसी एक श्लोक के कारण **भल्लटशतक** को भी संग्रह ग्रन्थ कहा जाता है किन्तु सम्भवतः यह कुछ लेखक प्रमाद है । **ध्वन्यालोक** में इसके ऊपर का श्लोक नं० ५६ "परार्थे यः पीडाम्०" और यह एक साथ ही उद्धृत हुए हैं । "अमी ये दृश्यन्ते०" के ऊपर लिखा है "यथा वा ममैव"—(आनन्दवर्धनाचार्यस्य)

या तो "यथा वा ममैव" पंक्ति अन्यत्र की है अथवा किसी लेखक ने इस "अमी ये दृश्यन्ते०" श्लोक को **भल्लटशतक** में प्रक्षिप्त कर दिया है । **काव्यमाला** में मुद्रित **भल्लटशतकम्** में १०८ श्लोक हैं ।

[६९]

आहूतेषु विहङ्गमेषु मशको नायान्पुरो वार्यते
मध्ये वा धुरि वा वसंस्तृणमणिर्धत्ते मणीनां रुचम् ।
खद्योतोऽपि न कम्पते प्रचलितुं मध्येऽपि तेजस्विनां
धिक्सामान्यमचेतनं प्रभुमिवानामृष्टतत्त्वान्तरम् ॥

'विहायस् अर्थात् आकाश में जो उड़े वह विहङ्गम अर्थात् पक्षी किन्तु इस प्रकार पक्षियों को बुलाने पर मच्छरों को आने से रोका नहीं जा सकता, इसी प्रकार बीच में या अन्तिम छोर पर रखी हुई तृण-मणि भी मणि की गणना में गिनी ही जायेगी, पुनश्च (खे=आकाशः द्योतते प्रकाशते इति=खद्योतः) खद्योत कहने से वह भी तेजस्वी सूर्य-चन्द्र आदि के समान परिगणित हो ही जाता है, उसे कोई सङ्कोच नहीं होता ऐसी "सामान्यधर्मिता" को धिक्कार है जो अविवेकी स्वामी की तरह बिना तत्त्व-विचार किये हुए ही किसी सामान्य धर्म की समानता के कारण ऊँच-नीच विद्वान्-मूर्ख सबको एक रूप में सीधा कर लेता है' ।

काव्यप्रकाश में "मध्ये वा धुरि वा" के स्थान पर "मध्ये वारिधि" पाठ है ।

तृणमणि—प्रसिद्धि है कि जिस प्रकार चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींचता है उसी प्रकार तृण-मणि पत्थर भी तिनकों को अपनी ओर खींच लेता है ।

[७०]

हेमकार, सुधिये नमोऽस्तु ते
दुस्तरेषु बहुशः परीक्षितुम् ।
काञ्चनाभरणमश्मना समं
यत्त्वयैवमधिरोप्यते[1] तुलाम् ॥

'परीक्षण के अत्यन्त कठिन कार्य में लगी हुई तुम्हारी उस सुबुद्धि को हे सुवर्णकार, नमस्कार है जिसके द्वारा तुम सोने के आभूषणों को तराजू पर रखकर पत्थर से तौलते हो ।

प्राचीन समय में पत्थरों के बाँट होते थे । यह पद्य भी अविवेकी राजा या प्रभुतासम्पन्न व्यक्ति के विषय में लागू होता है ।

---

१. यत्त्वयेतद०—*सुभा०* श्लोक ८६७ ।

[७१]

वृत्त एव स घटोऽन्धकूपक[1]
त्वां प्रसादमपि नेतुमक्षमः ।
मुद्रितं त्वधमचेष्टितं त्वया
तन्मुखाम्बुकणिकाः परीप्सता[2] ।।

अन्धकूप वह कुआँ है जिसके भीतर और ऊपर भी घास-फूस तथा पेड़ पौधे उग आते हैं जो उससे जल निकालने में बाधक होते हैं और बहुधा उसमें डाले गये मिट्टी आदि के घड़े टूट जाते हैं। उसी को लक्ष्य कर कहा जा रहा है—

'हे अन्धकूप, वह घड़ा तो टूट कर समाप्त भी हो गया और तुमको प्रसन्न करने में असमर्थ रहा। इस तरह उसने तो तुम्हारी कृपा (जल) प्राप्त करने के लिए अपने जीवन का ही उत्सर्ग कर दिया किन्तु तुमने ऐसी अधम चेष्टा की कि उस विनष्ट होते हुए अर्थात् मरते हुए उसके मुख के जल को ग्रहण करना चाहा या कर लिया'।

[७२]

शतपदी सति पादशते क्षमा
भुवि[3] न गोष्पदमप्यतिवर्त्तितुम् ।
किमियता द्विपदस्य हनूमतो
जलनिधिक्रमणे[4] विवदामहे ।।

शतपदी अर्थात् कनखजूरा सौ पैरों के होते हुए भी गाय के खुर के बराबर गढ़े के जल में पड़ कर निकलने या उसे पार करने में असमर्थ देखा जाता है तो क्या इस आधार पर हम दो पैर वाले हनुमान् के द्वारा समुद्र लङ्घन किये जाने के विषय में विवाद में पड़ते या सन्देह करते हैं ?

किसी की शक्ति और सामर्थ्य का उसके बाह्य रूप रंग आदि से विशेष सम्बन्ध नहीं होता।

---

१. अन्धकूप यस्त्वत्प्रसादमपनेतुम्—*सुभा०* श्लोक ९६८ ।
२. प्रतीच्छता ।
३. यदि —*सुभा०* श्लोक ९६९ ।
४. जलधिविक्रमणे ।

[७३]

न गुरुवंशपरिग्रहशौण्डता, न च महागुणसङ्ग्रहणादरः ।
फलविधानकथापि न मार्गणे, किमपि[1] लुब्धकबाल गृहेऽधुना ।।

अपने वंश के किसी भी गुण को न सीखे हुए अपने पुत्र से खीझा हुआ बहेलिया कहता है—

'न तो लासा लगा कर चिड़ियों को पकड़ने वाले बड़े बाँस को सँभालने की योग्यता तुममें आई, न धनुष की डोर साधना आया, खोज कर पशु-पक्षियों को ढूंढ़ निकालने की भी योग्यता तुममें न हुई। ऐसी स्थिति में हे बहेलिए के बेटे, इस समय घर में खाने के लिए क्या रक्खा है' ?

[७४]

तृणमणेर्मनुजस्य च तद्वतः
किमुभयोर्विपुलाशयतोच्यते ।
तनुतृणाग्रलवावयवैर्ययो-
रवसिते ग्रहणप्रतिपादने ।।

तृणमणि एक प्रकार का वह पत्थर है जो समीपवर्ती सूखे तिनकों को अपनी ओर समेटता है। कवि की उक्ति है—

'तृणमणि और उसके ही समान गुण वाले क्षुद्र वस्तु-ग्राही मनुष्य— इन दोनों की उदार हृदयता का क्या वर्णन किया जाय जिनके हलके तिनके और अल्पांश के ही ग्रहण-त्याग में उनकी उदारता या लघुता का समापन हो जाता है'।

---

१. किमिह –सुभा० श्लोक ६७०
यह पाठान्तर समीचीन है।

[७५]

तनुतृणाग्रधृतेन हृतश्चिरं
क इव तेन[1] न मौक्तिकशङ्कया ।
स जलबिन्दुरहो[2] विपरीतदृग्-
जगदिदं वयमत्र सचेतनाः ।।

'हलके तिनके के अग्रभाग पर लटकती ओस या जलबूंद को देख कर कोई अन्य मनुष्य भले ही उसे मोती समझ कर वञ्चित हुआ हो तो उसे वञ्चित होने दो, क्योंकि यह संसार विपरीत दृष्टि वाला है, किन्तु हम तो इस विषय में बहुत सावधान हैं । हम नहीं ठगे जा सकते' ।

[७६]

बुध्यामहे न बहुधापि विकल्पयन्तः[1]
कैर्नामभिर्व्य[2]पदिशेम महामतींस्तान् ।
येषामशेषभुवनाभरणस्य हेम्न-
स्तत्त्वं विवेक्तुमुपलाः परमं प्रमाणम् ।।

'बहुत सोच-विचार करने पर भी यह नहीं समझ में आ रहा है कि उन महाबुद्धिमानों को कौन-सा नाम दें जिनको समस्त लोकों के अलङ्कार रूप सोने की शुद्धता-अशुद्धता की जाँच करने के लिये पत्थर ही प्रमाणभूत होते हैं' ।

सोनार सोने का खरापन जाँचने के लिये उसे काले पत्थर की कसौटी पर कसता है ।

---

१. क इह येन—*सुभा०* श्लोक ६७३ ।

२. ० रतो ।

३. विकल्पमानाः—*सुभा०* श्लोक ६८२ ।

४. व्यपदिशाम ।

[७७]

संरक्षितुं कृषिमकारि कृषीबलेन
पश्यात्मनः प्रतिकृतिस्तृणपूरुषोऽयम् ।
स्तब्धस्य निष्क्रियतयास्तभियोऽस्य नून-
मश्नन्ति[1] गोमृगगणाः पुनरेव सस्यम् ।।

घास और तिनकों से पुरुष का आकार बना कर किसान उसे खेत की सुरक्षा के लिए खेत के बीच में खड़ा कर देता है किन्तु पशु-पक्षी जब समझ जाते हैं कि वह निर्जीव है तो पुनः खेत चरने लगते हैं। "चञ्चा तृणमयः पुमान्" ।

'देखो—खेती की रक्षा के लिए किसान ने अपनी प्रतिकृति के रूप में जो तिनकों का आदमी बना कर खड़ा किया है उसकी स्थिरता और चेष्टा-विहीनता (हाथ पैर न चलाना आदि) देख कर निडर बने ये पशु-पक्षी फिर भी खेत चरने लग गये हैं' ।

किसी भी जीव का आतङ्क या प्रभाव उसकी शक्ति पर निर्भर रहता है, मात्र आकृति से कुछ नहीं होता ।

---

१. अत्स्यन्ति—*सुभा०* श्लोक ९८४ ।

[७८]

कस्यानिमेषवितते नयने दिवौको-

लोकादृते जगति ते अपि वै गृहीत्वा ।

पिण्ड[1]प्रसारितमुखेन तिमे किमेतद्-

दृष्टं न बालिश विशद्बडिशं त्वयान्तः ।।

स्वर्ग में रहने वाले देवताओं के ही नेत्रों की पलकें सदा स्थिर रहती हैं, मनुष्यों की तरह क्षण-क्षण में उठती और गिरती नहीं। मछलियों की भी पलकें बन्द नहीं होतीं सदा खुली रहती हैं, इसी सन्दर्भ में कवि कहता है—

'हे तिमि (बड़ी मछली का एक भेद), देवताओं के अतिरिक्त और किसके नेत्र सदा खुले रहा करते हैं? उनको लेकर भी हे मूर्ख, आटे या माँस-पिण्ड के लिए मुँह फैलाए हुए तुमको उसके भीतर प्रविष्ट होता हुआ लोहे का अंकुश = (काँटा) क्यों नहीं दिखाई दिया'?

लोभ से मनुष्य की आँखें बन्द हो जाती हैं अर्थात् उसका विवेक, भले-बुरे, हित-अहित का ज्ञान नष्ट हो जाता है जिसके फलस्वरूप उसका नाश हो जाता है।

---

१. पिण्डे—*सुभा०* श्लोक ९८५।

[७९]

पुंस्त्वादपि प्रविचलेद्यदि यद्यधोऽपि
यायाद्यदि प्रणयने न महानपि स्यात् ।
अभ्युद्धरेत्तदपि विश्वमितीदृशीयं
केनापि दिक् प्रकटिता पुरुषोत्तमेन ।।

'पुरुषोत्तम विष्णु ने पुरुष रूप को त्याग, स्त्रीत्व स्वीकार कर, मोहिनी अवतार द्वारा दैत्यों से अमृत घट बचाया, पाताल जाकर राजा बलि से दान माँगा, इस तरह अधोगमन किया, इतना सब करते हुए भी उन्होंने विश्व का उद्धार किया। इस तरह पुरुषोत्तम ने एक अद्भुत नवीन आदर्श मार्ग प्रस्तुत किया'।

महापुरुषों के अद्भुत चरित्र का रहस्य समझना कठिन है।

यहाँ सत्पुरुष में वर्णनीय विषय प्रस्तुत कर अप्रस्तुत विष्णु का कथन पुंस्त्वात्, पुरुषोत्तमेन, आदि पदों का श्लेषार्थ सत्पुरुष का निर्देश करता है अतः श्लेषमूलक अप्रस्तुत प्रशंसा का यह उदाहरण उपदेश है कि आप भी ऐसे बनें।

[८०]

स्वल्पाशयः स्वकुलशिल्पविकल्पमेव
यः कल्पयन् स्खलति काचवणिक् पिशाचः ।
ग्रस्तः स कौस्तुभमणीन्द्रसपत्नरत्न-
निर्यत्नगुम्फनक[1]वैकटिकेर्ष्ययान्तः ।।

'अर्थपिशाच, छोटे हृदय का, अनुदार काँच का व्यापारी, जो अपनी ही वंश परम्परा के शिल्प की उधेड़ बुन में लगा-लगा कभी भूल कर बैठता है उसका कारण यह है कि वह मणिश्रेष्ठ कौस्तुभ के सदृश उत्तम रत्नों के बिना प्रयास गुँध जाने की ईर्ष्या से ग्रस्त है'।

काच के मनके टूटते-फूटते रहते हैं जब कि हीरा, पन्ना, नीलम आदि न टूटते हैं, न इनके गूथने जड़ने आदि में विशेष कठिनता ही होती है।

श्लोक का भावार्थ है कि उत्तम से अधम द्वेष करते ही हैं।

---

१. गुम्फपटु—सुभा० श्लोक ९८८।

[८१]

तत्प्रत्यर्थितया वृतोऽनु कृतकः[1] सम्यक्स्वतन्त्रो भया-
त्स्वस्थस्तान्न निपातयेदिति यथाकामं न संतोषितः[2]।
संशुष्यन् वृषदंश एष कुरुतां मूकः स्थितोऽप्यत्र किं
गेहे किं बहुनाधुना गृहपतेश्चौराश्चरन्त्याखवः ।।

किसी ने चूहों को भगाने के लिए उनकी शत्रु बिल्ली पाली किन्तु उसे इस भय से कि स्वस्थ और स्वतन्त्र हो कर वह चूहों को न मारेगी, न तो पूर्ण स्वतन्त्र किया, न पेट भर खाना ही खिलाया। ऐसी स्थिति में वह दुबली होते-होते सूख कर चुपचाप बैठी रहने लगी और हालत यह हुई कि उस गृहस्वामी के घर में चोर चूहे, स्वच्छन्द होकर घूमते रहे।

[८२]

एवं चेत्सरसि स्वभावमहिमा[3], जाड्यं किमेतादृशं
यस्मादेव[4] निसर्गतः सरलता, किं ग्रन्थिमत्तेदृशी ।
मूलं चेच्छुचि पङ्कजश्रुतिरियं कस्माद्गुणा यद्यमी
किं छिद्राणि, सखे मृणाल, भवतस्तत्त्वं न मन्यामहे ।।

'हे मृणाल (कमलनाल), यदि तुम कहते हो कि तुम में सरोवर का स्वाभाविक गुण सरलता (जलयुक्त होना और सहृदयता) है तो ऐसी जड़ता क्यों? यदि स्वाभाविक सरलता की बात कहते हो तो ऐसी ग्रन्थिमत्ता (गँठीलापन) क्यों? तुम्हारा मूल शुद्ध है ऐसा यदि कहते हो तो तुम पङ्क अर्थात् काले-काले कीचड़ से उत्पन्न पङ्कज हो ऐसी तुम्हारी प्रसिद्धि क्यों? यदि तुम में गुण हैं (रेशा, तन्तु, सद्गुण) तो ये छिद्र अर्थात् दोष कैसे? अतः हे मित्र मृणाल, हम तुम्हारा तत्त्व नहीं समझ पा रहे हैं'।

---

१. तत्प्रत्यस्त्रतया धृतो न तु कृतः—*सुभा०* श्लोक १००८।
२. संपोषितः।
सुभा० के पाठान्तर समाचीन हैं।
३. एवं चेत् सरसस्वभावपरता—*सुभा०* श्लोक १००२।
४. यद्यस्त्येव।

[८३]

ये[1] दिग्ध्वैव कृता विषेण, कुसृतिर्येषां कियद् गण्यते
लोकं हन्तुमनागसं द्विरसना, रन्ध्रेषु ये जाग्रति।
व्यालास्ते विदधत्यमी सदसतोश्चूडामणिं[2] मूर्धभि-
र्नौचित्याद्गुणशालिनां क्वचिदपि भ्रंशोऽस्त्यलं चिन्तया॥

'जो विष से संयुक्त करके ही उत्पन्न किये गये, जिनके दोषों की गणना भी कितनी की जाय, निरपराध लोगों को मारने के लिये जिनको दो जीभें हैं, जो छिद्रों में ही रहते हैं अथवा रन्ध्र अर्थात् छिद्र-दोष निकालने के लिए ही सदा सावधान रहते हैं वे ये सर्प भी सत्-असत् का भेद कर चूड़ामणि को शिर पर धारण करते हैं। इससे सिद्ध है कि गुणशालियों को उत्तम ही स्थान मिलता है, उनका पतन नहीं होता अतः चिन्ता करना व्यर्थ है'।

[८४]

अहो क्रौर्यं स्त्रीणां हतरजनि, धिक् त्वामतिशठे
मृषा प्रक्रान्तेयं तिमिरकबरीविश्लथधृतिः।
अवक्तव्ये पाते जननयननाथस्य शशिनः
कृतं स्नेहस्यान्तोचितमुदधिमुख्यैर्न तु जडैः॥

'स्त्रियों की क्रूरता के विषय में क्या कहा जाय? हे अभागी रजनी, तुझे धिक्कार है। तू बड़ी ही दुष्टा है। तूने अपने मोहक अन्धकार रूपी केश-पाश को व्यर्थ ही बिखरा रक्खा है। जन-जन के नेत्रों के लिए आह्लाद-कारी चन्द्रमा के अवर्णनीय पतन के समय जड़ समुद्र ने तो अपने पुत्र-स्नेह के अनुकूल कार्य किया अर्थात् उसे अपने में लीन कर लिया, लेकिन तू उसे किसी प्रकार का आश्रय न दे सकी। सुन्दर केश-पाश में भी न बाँध सकी'।

---

१. यान्—*सुभा*० श्लोक १००७।
२. मूढा मणीन्।

[८५]

अहो गेहेनर्दी दिवसविजिगीषाज्वररुजा
प्रदीपोऽयं स्थाने श्लपयति मृषामूनवयवान् ।
उदात्तस्वच्छन्दाक्रमणहृतविश्वस्य तमसः
परिस्पन्दं द्रष्टुं मुखमपि च किं सोढममुना ।।

'अरे, घर का ही शूरवीर यह दीपक सूर्य को जीत लेने की इच्छा रूप संताप से अपने अंगों को व्यर्थ ही क्षीण कर रहा है। पूरी स्वतन्त्रता के साथ आक्रमण करके समस्त विश्व के अन्धकार को दूर कर देने वाले सूर्य का चलना-फिरना देख सकने लायक भी क्या इसका मुँह है' ?

[८६]

नामाप्यन्यतरोर्निमीलितमभूत्तत्तावदुन्मीलितं
प्रस्थाने स्खलित[1] स्ववर्त्मनि विधेरन्यैर्गृहीतः करः ।
लोकश्चायमदृष्टदर्शनवशाद्दृग्वैशसान्मोचितो[2]
युक्तं काष्ठिक, लूनवान्यदसि तामाम्रालिमाकालिकीम् ।।

सबका हित करने वाली वस्तु या व्यक्ति का विनाश कर देने वाले अविवेकी के लिए उक्त उक्ति चरितार्थ होती है।

'जब कि अन्य वृक्षों का नाम भी नहीं रह गया था, गर्मी आदि से झुलस कर नष्ट हो गये थे तब यह विकसित होकर खड़ा रहा, दुर्दैव वश भूले-भटके पथिकों को इसने आश्रय दिया, माङ्गलिक वृक्ष माना जाने के कारण इसने लोगों को दृष्टि दोष आदि से बचाया, फिर भी हे बढ़ई, तूने उस अमवारी (आम्र के वृक्षों का कुञ्ज) को काट कर ठीक ही किया'।

---

१. स्खलतः—*सुभा०* श्लोक १०१७ ।

२. दशादृग्वैशसादुद्धृतो ।

[८७]

वाताहारतया जगद् विषधरैराश्वास्य निःशेषितं
ते ग्रस्ताः पुनरभ्रतोयकणिकातीव्रव्रतैर्बर्हिभिः ।
तेऽप्यक्रूर[1]चमूरुचर्मवसनैर्नीताः क्षयं लुब्धकै-
र्दम्भस्य स्फुरितं विदन्नपि जनो जाल्मो गुणानीहते ।।

'देखो लोगों, हमारी कैसी सात्त्विक वृत्ति है कि हम हवा पीकर ही रह जाते हैं, वायु ही हमारा आहार है— इस तरह संसार को आश्वासन देकर इन सर्पों ने संसार का संहार किया है, "अरे हम तो मेघों के जल की बूंदों के ग्रहण का कठोर व्रत पालन करते हैं" इस तरह अपने को व्रती जताते हुए मयूर उन सांपों को निगल गये, और "अरे हम तो भोले-भाले मृगों का चर्म पहनने वाले तपस्वी हैं" ऐसा आश्वासन देकर उन मयूरों को भी व्याधों ने निःशेष किया—इस तरह झूठ-मूठ का सदाचार का दम्भ-मिथ्या अभिमान का साम्राज्य सर्वत्र देखते हुए मूर्ख मनुष्य व्यर्थ ही गुणों की कामना करते हैं'।

धूर्तों के जाल से बचना मुश्किल है अतः गुण-संग्रह की कोई आवश्यकता नहीं है।

---

१. तेऽपि क्रूर— सुभा० श्लोक १०१६ ।

[८८]

ऊढा येन महाधुराः सुविषमे मार्गे सदैकाकिनां
सोढो येन कदाचिदेव न निजे गोष्ठेऽन्यशौण्डध्वनिः ।
आसीद्यस्तु गवां गणस्य तिलकं तस्यैव सम्प्रत्यहो-
धिक्कष्टं धवलस्य जातजरसो गोः पण्यमुद्घोष्यते ।।

'जिसने विषम अर्थात् ऊँचे-नीचे मार्ग पर सदा अकेले ही भारी-भारी बोझ ढोए, जिसने कभी भी अपनी टोली में किसी दूसरे साँड़ की गरज बर्दाश्त नहीं की और जो गाय-बैलों के मध्य राजा बना रहा, बुढ्ढे हो जाने के कारण आज उसी धौरे बैल की नीलामी हो रही है।

संसार कितना स्वार्थी है।

[८९]

अस्थानोद्योगदुःखं जहिहि नहि नभः पङ्गुसञ्चारयोग्यं
स्वायासायैव साधो तव शलभ, जवाभ्यासदुर्वासनेयम् ।
ते देवस्याप्यचिन्त्याः प्रचलितभुवनाभोगहेलावहेला-
मूलोत्खातानुमार्गा गतगिरिगुरवस्तार्क्ष्यपक्षाग्रवाताः ।।

'हे पतिंगे, तुम अनुचित उद्योग करने का क्लेश न उठाओ। आकाश जैसे ऊँचे स्थानों पर लंगड़े लोग नहीं चढ़ा करते। हे भले मानस, वेग पूर्वक उड़ने का तुम्हारा यह दुराग्रह तुमको केवल कष्ट देने वाला ही सिद्ध होगा। जिसके वेग के साथ तुम होड़ लगाना चाहते हो वे देवताओं के द्वारा भी अचिन्तनीय एवं संसार भर के सर्पों का विना परिश्रम के खेल खेल में ही जड़ सहित नाश करने में समर्थ और पर्वतों की भी गुरुता को परास्त करने वाले गरुड़ के पंखों के पवन हैं'।

[९०]

चन्द्रेणैव तरङ्गभङ्गिबहुलं संवर्ध्यमानाम्भसो
दद्युर्जीवनमेव किं गिरिसरित्स्रोतांसि यद्यम्बुधेः ।
तेष्वेव प्रतिसंविधानविकलं पश्यत्सु साक्षिष्विव
प्राग् दर्पोद्धुरमागतेष्वपि न स क्षीयेत यद्यन्यथा ।

पूर्ण चन्द्रोदय के समय समुद्र में बहुत ही ऊँची-ऊँची लहरें उठती हैं इस प्रसङ्ग से कवि का कथन है—

'चन्द्रमा से ही तरङ्गित होकर बढ़े हुए जल वाले अम्बुधि अर्थात् समुद्र को यदि पर्वत की नदियाँ और झरने आदि अपना जीवन (जल का एक नाम जीवन भी है) समर्पित कर देते हैं तो भी क्या ? क्योंकि ये ही सरिताएँ और स्रोत जब ग्रीष्म काल में सूख कर सर्वथा असमर्थ होकर उस समुद्र के पास आते हैं तब वह उनके जीवन के लिए जरा सा भी क्षीण नहीं होता । अर्थात् उनको जल नहीं देता' ।

यहाँ "यद्यन्यथा" का अर्थ स्पष्ट नहीं होता ।

[९१]

किलैकचुलुकेन यो मुनिरपारमब्धिं पपौ
सहस्रमपि घस्मरो विकृत एव तेषां पिबेत् ।
स संभवति किंचिदम्बरविकासिधाम्ना विना
सदप्यसदिव स्थितं स्फुरितमन्तरोजस्विनाम् ।।

'जिस अगस्त्य मुनि ने अपार सागर को एक चिल्लू में पी डाला उसे ही हजार भी सूर्य कठिनता से ही पी सकेंगे । वह भी क्या समस्त आकाश को विकसित कर देने का तेज रखने वाले सूर्य के विना संभव है ? अन्तस् के ओजस्वी पुरुषों का तेज वर्त्तमान होते हुए भी अवर्त्तमान सा रहता है' ।

[६२]

ग्रावाणोऽत्र विभूषणं त्रिजगतो, मर्यादया स्थीयते
नन्वत्रैव विधुः स्थितो हि, बिबुधाः संभूय पूर्णाशिषः ।
शेते चोद्‌गतनाभिपद्मविलसद्‌ब्रह्मेह देवः स्वयं
दैवादेव गतः स्वकुक्षिभृतये सोऽप्यम्बुधिर्निम्नगाः ।।

'इस समुद्र के पत्थर रत्नों के रूप में त्रिभुवन के लिए अलङ्कार होते हैं, यह अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ता, इसी में चन्द्रमा जैसा उज्ज्वल पदार्थ रहा, समस्त देवतागण सम्मिलित रूप से इसे आशीर्वाद दे चुके हैं। जिसके नाभिकमल में ब्रह्मा विराजमान हैं ऐसे स्वयं विष्णु जी यहाँ शयन करते हैं। इतनी सब महिमा होते हुए भी वही समुद्र दैवदोष से अपना पेट भरने के लिए निम्न स्तरों में बहने वाली नदियों से याचना करता है'।

[६३]

अनीर्ष्याः श्रोतारो मम वचसि चेद् वच्मि तदहं
स्वपक्षाद् भेतव्यं न तु बहु[1] विपक्षात्प्रभवतः ।
तमस्याक्रान्ताशे कियदिव[2] हि तेजोऽवयविनः
स्वशक्त्या भासन्ते विवसकृति सत्येव न पुनः ।।

'यदि मेरी बात सुनने के लिए तुम्हारे हृदय में कोई ईर्ष्या की भावना नहीं है तो मैं तुम से यह कहना चाहता हूँ कि मनुष्य को अपने ही पक्ष के लोगों से डरना चाहिए न कि प्रभावशाली विपक्षीदल से। जब समस्त दिशाओं में अन्धकार छा जाता है तब तेज के स्वल्प अंश वाले भी तारागण आकाश में अपनी शक्ति भर प्रकाशमान् होते हैं किन्तु वे ही सूर्य के निकल आने पर प्रकाशहीन हो जाते हैं'।

---

१. बहु न तु—*सुभा०* श्लोक १०१२ ।
२. कियदपि ।

[६४]

एतत्तस्य मुखात्कियत्कमलिनीपत्रे कणं पाथसो[१]
यो मुक्तामणि[२]रित्यमंस्त सजडः शृण्वन्नकस्मादपि[३]।
अङ्गुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने तत-[४]
स्तत्रोड्डीय[५] गतो ममेत्यनुनिशं[६] निद्राति नान्तः शुचा ॥

कोई आदमी किसी से सुना हुआ किसी मूर्ख का वृत्तान्त वता रहा है—

'वह मूर्ख कमलिनी के पत्तों पर पड़ी जल बूंद को सचमुच का उम्दा मोती मान बैठा- इस पर सुनने वाले ने कहा—(तस्य मुखात् [श्रुतम्] एतत् कियत्) उसके मुख से सुना गया यह क्या है? यह तो बहुत थोड़ा है, इससे भी बढ़ कर तुम मुझ से सुनो। एक मूर्ख इसी तरह उस मुक्तामणि को जब धीरे से लेने चला तव अँगुली के अग्र भाग से उसके छूते ही उसका नष्ट हो जाना स्वाभाविक था किन्तु यह मूर्खराज तभी से "हाय हमारा वह मुक्तामणि उड़ कर कहाँ चला गया" इस प्रकार मन ही मन दुखी रहता हुआ रोज रात में सो ही नहीं पा रहा है'।

इस श्लोक में प्रस्तुतालङ्कार है- मूर्खों की ममता अयोग्य वस्तु में ही प्रायः देखी जाती है—इस सामान्यरूप से प्रस्तुत का आश्रय लेकर मूर्ख विशेष का जलकण में मुक्ताभ्रम या मुक्ताभ्रमत्व कहा गया है।

---

१. वारिणो *काव्यप्रकाश (का० प्र०)*
२. यन्मुक्ताफलमित्य० - *सुभा०* श्लोक १०१४।
३. शृण्वन्यदस्मादपि—*का० प्र०* एवं *सुभा०*।
४. शनैः—*का० प्र०* एवं *सुभा०*।
५. कुत्रोड्डीय —*का० प्र०*।
६. हहेत्यनुदिनं—*सुभा०*। ममेत्यनुदिनं *का० प्र०*।

[९५]

आस्तेऽत्रैव सरस्यहो बत कियान् संतोषपक्षग्रहो
हंसस्यास्य मनाङ् न धावति मनः श्रीधाम्नि पद्मे क्वचित् ।
सुप्तोऽद्यापि न बुध्यते[1], तदितरस्तावत्प्रतीक्षामहे
वेलामित्युदरप्रिया[2] मधुलिहः सोढुं क्षणं न क्षमाः[3] ।।

एक ही तालाब पर बैठे हंस और भ्रमर के मनोभावों का चित्रण है—

'इसी तालाब पर बैठा हुआ है किन्तु इसके मन में कितना संतोष है कि इस हंस का मन शोभा धाम कमल की ओर कभी भी नहीं जाता और ऐसा सोया हुआ है कि अभी भी नहीं जग रहा है। किन्तु दूसरी ओर इन पेटू भौंरों के लिए एक क्षण का भी विलम्ब असह्य हो रहा है और ये बैठे उस क्षण की प्रतीक्षा कर रहे हैं कि कब कमल विकसित हो और वे उसका मकरन्द पान करें'।

हंस और भ्रमर के स्वभाव के निदर्शन से उत्तम और निकृष्ट व्यक्ति का परिचय है।

[९६]

भेकेन क्वणता सरोषपरुषं यत्कृष्णसर्पानने
दातुं गण्डचपेट[4]मुज्झितभियाहस्तः समुल्लासितः ।
यच्चाधोमुखमक्षिणी विदधता[5] नागेन तत्र स्थितं
तत्सर्वं विषमन्त्रिणो भगवतः कस्यापि लीलायितम् ।।

'यदि टर्र-टर्र करते हुए मेढक काले साँप के मुख पर अत्यन्त क्रोध के साथ तमाचा लगाने के लिये नीची आँखें करके चुपचाप बैठा है तो समझ लेना चाहिए कि अवश्य ही यह साँप का मन्त्र जानने वाले किसी तान्त्रिक की लीला है'।

निर्बल यदि सबल से मोर्चा लेने की बात करे तो समझ लेना चाहिए कि प्रोत्साहित करने के लिए कोई प्रबल मनुष्य उसे आश्रय दे चुका है।

---

१. बिबुध्यते न तदितः—*सुभा०* श्लोक १०१५।

२. उषसि प्रिया।

३. त एव क्षमा।

४. कर्णचपेट——*सुभा०* श्लोक १०१९।

५. पिदधता।

[९७]

मृत्योरास्यमिवाततं धनुरिदं[1] चाशीविषाभाः शराः
शिक्षा सापि जितार्जुनप्रभृतिका सर्वत्र निम्नाकृतिः[2] ।
अन्तः क्रौर्यमहो शठस्य मधुरं हा हारि गेयं मुखे
व्याधस्यास्य यथा भविष्यति तथा मन्ये वनं निर्मृगम् ।।

'मानों काल का बड़ा सा फैला हुआ मुख हो ऐसा तो यह धनुष, जहरीले साँप की तरह ये बाण, अर्जुन को भी मात कर देने वाली धनुर्विद्या की निपुणता, सदा शिकार की खोज में झुका-झुका सा शरीर, अन्तस्तल की क्रूरता और मुँह से मनोहारी मीठा गान—इस तरह इस दुष्ट बहेलिए की यदि यही हालत रही तो मेरी समझ से यह वन पशुओं से शून्य हो कर ही रहेगा'।

प्रभुता सम्पन्न दुष्ट का आधिपत्य महान् संहार कारक होता है।

[९८]

ग्रावग्रस्तसमस्तचेतनमनो, वैदग्ध्यमुग्धो जनः
कः स्पर्धामधिरोहति त्रिभुवने चित्रं त्वया तन्वता ।
भावानां सदसद्विवेककलनाभ्यासेन जीर्णान्तरं
दूरादेव न नाम येन हृदयं वोढुं कृतो दुर्ग्रहः ।।

किसी क्रूर धूर्त्त आदमी से कौन बराबरी कर सकता है—इसी बात को बताने के उद्द् श्य से कवि का कथन है कि—

'जब कि तुम्हारी पत्थर जैसी कठोरता सब के मन में समाई हुई है, तुम्हारी चतुराई पर लोग मुग्ध हैं और तुम चित्र-विचित्र काम करते रहते हो तो ऐसा कौन है जो इस त्रिभुवन में तुम्हारी स्पर्धा करेगा—तुम से लाग-डाँट लगाएगा ? सिवाय उस आदमी के जिसने भले-बुरे के विचार के निरन्तर अभ्यास से परिपुष्ट अपने मन को तुमसे दूर रखने का ही हठ न ठान रक्खा हो'।

---

१. धनुरमी—*सुभा०* श्लोक १०२१।

२. जितार्जुना प्रतिभयं सर्वाङ्गनिम्ना गतिः।

[९९]

कोऽयं भ्रान्तिप्रकारस्तव पवन, पदं लोकपादाहतानां[1]
तेजस्विव्रातसेव्ये नभसि नयसि यत्पांसुपूरं प्रतिष्ठाम् ।
अस्मिन्नुत्थाप्यमाने[2] जननयनपथोपद्रवस्तावदास्तां
केनोपायेन साध्यो[3] वपुषि कलुषतादोष[4] एष त्वयैव ।।

'हे पवन, तुम्हारा यह कैसा भ्रम है कि तुम, लोगों के पैरों से रौंदी गई धूल के ढेर को, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र आदि तेजस्वियों से सुसेवित आकाश में ले जाकर स्थिर करते हो। इस धूल का ववंडर उठाने में लोगों की आँखों को कष्ट होने की बात तो दूर रही "धूल भरी हवा चल रही है" इस तरह का तुम्हारा निजी कलङ्क कौन दूर करेगा' ?

[१००]

एते ते विजिगीषवो नृपगृहद्वारार्पणावेक्षणाः
क्षिप्यन्ते वरयाचनाहितधियः कोपोद्धतैर्वत्रिभिः ।
अर्थेभ्यो विषयोपभोगविरसैर्नाकारि यैरादर-
स्ते तिष्ठन्ति मनस्विनः सुरसरित्तीरे मनोहारिणि ।।

'अपनी किसी बड़ी माँग के पूरी हो जाने की आशा से जो लोग राजा या किसी धनी के द्वार पर आँख लगाये बैठे रहते हैं उनको क्रोधी और उद्दण्ड दण्डधारी द्वारपाल गण तिरस्कृत करते हैं किन्तु सांसारिक विषयों के भोग से विमुख होकर जिन्होंने रुपये पैसे की ओर से ध्यान हटा लिया है ऐसे मनस्वी तो गङ्गा के मनोहारी तट पर बैठ कर आनन्दित रहा करते हैं' ।

---

१. घनावस्करस्थानजातम्—*सुभा०* श्लोक १०३२ ।

२ यस्मिन्० ।

३. सह्यो ।

४. मलिनता० ।

सुभा० में यह श्लोक भागवतामृतदत्त के नाम से उद्धृत है ।

[१०१]

वाता वान्तु कदम्बरेणुबहला नृत्यन्तु सर्पद्विषः
सोत्साहा नवतोयपानगुरवो मुञ्चन्तु नादं घनाः ।
मग्नां कान्तवियोगदुःखदहने मां वीक्ष्य दीनाननां
विद्युत्प्रस्फुरसि त्वमप्यकरुणे स्त्रीत्वेऽपि तुल्ये सति ।।

'कदम्ब का धूल भरा पवन वहता है तो बहने दो, सर्प-द्वेषी मोर नाचते हैं तो नाचने दो, नवीन जल के भार से बोझिल मेघ उल्लास से भर कर गर्जन करते हैं तो करने दो, किन्तु प्रियतम की वियोगाग्नि से जलती हुई, मुझ दीनवदना को देख कर हे निर्दय विद्युत्, तुम भी कौंध रही हो जब कि स्त्री होने के नाते हम तुम दोनों समान हैं'।

अपने ही समान सुख दुःख वाले लोगों से सहानुभूति न पाकर मनुष्य की वेदना की विकलता असह्य हो जाती है।

[१०२]

प्राणा येन समर्पितास्तव, बलाद्येन त्वमुत्थापितः
स्कन्धे येन चिरं धृतोऽसि विदधे यस्ते सपर्यामपि ।
तस्यान्तः स्मितमात्रकेण जनयञ्जीवापहारं क्षणा-
द्भ्रातः प्रत्युपकारिणां धुरि परं वेताल लीलायसे ।।

वेताल-सिद्धि शव-साधना से होती है और श्मशान की भयङ्करता के कारण वहुत ही कठोर तथा भयावनी होती है। उसी वेताल-सिद्धि के प्रसङ्ग में वेताल के स्वभाव का वर्णन है—

'हे वेताल, जिस साधक ने तुमको प्राण दिये अर्थात् जिलाया, बल लगा कर तुमको उठाया, अपने कन्धों पर चिरकाल तक ढोया और तुम्हारी पूजा भी की, उसी की मात्र छिपी भीतरी मुस्कान से तुम उसका प्राण हर लेते हो। अतः हे भाई, तुम प्रत्युपकारियों (भलाई के बदले भलाई करने वालों) में सबसे श्रेष्ठ हो'।

[१०३]

रज्वा दिशः प्रवितताः सलिलं विषेण
पाशैर्मही हुतभुजा ज्वलिता वनान्ताः।
व्याधा पदान्यनुसरन्ति गृहीतचापाः[1]
कं देशमाश्रयतु[2] यूथपतिर्मृगाणाम्॥

जंगल में चारों ओर रस्सी या काँटों का घेराव कर दिया गया है, पानी में विष घोल दिया गया है, जमीन पर सब जगह जाल बिछा हुआ है, वन के अन्तिम छोरों पर आग लगा दी गई है, वहेलिए धनुष लेकर पग-पग पर पीछा कर रहे हैं ऐसी दशा में मृगों की टोली का नायक अपने दल के मृगों के साथ भाग कर किधर जाय ?

[१०४]

प्रेङ्खन्मयूखनखशात[1]शिखानिखात-
विख्यातवारणगणस्य हरेर्गुहायाम्।
क्रोष्टा निकृष्टसरमासुतदृष्टिनष्ट-
धाष्टर्यः प्रविष्ट[2] इति कष्टमिहाद्य दृष्टम्॥

'तीखे-तीखे चमकीले नाखूनों के अग्रभाग से प्रख्यात हाथियों के दल को नष्ट कर देने वाले सिंह की गुफा में आज मैंने बड़े ही दुःख के साथ देखा कि मरियल कुत्ते की भी दृष्टि मात्र से अपनी सारी शेखी भूल जाने वाला सियार घुस कर बैठा है'।

---

१. गृहीतबाणाः—*सुभा०* श्लोक ६४८।
२. आश्रयति।
यह श्लोक *सुभा०* में मुक्तापीड के नाम से उद्धृत है।
३. नखपात—*सुभा०* श्लोक ६०२।
४. निविष्ट।
यह श्लोक *सुभा०* में उपाध्याय धनवर्मा के नाम से पठित है।

[१०५]

दानार्थिनो मधुकरा यदि कर्णतालं-
दूरीकृताः करिवरेण मदान्धबुद्ध्या ।
स्वस्यैव गण्डयुगमण्डनहानिरेषा
भृङ्गाः पुनर्विकचपद्मवने चरन्ति ।।

'मतवाले गजराज ने यदि मद-जल के लोभी भौंरों को कानों की चपेट से मार-मार कर भगा दिया है तो इससे तो उसने अपने ही गण्डस्थलों (कनपटियों) की शोभा की हानि की है। भौंरे तो विकसित कमलों के बीच घूम ही रहे हैं'।

गर्व में आकर अपने हितैषियों को हटा देने से अपनी हानि होती है।

[१०६]

विख्यातं विजयावहं रणभुवि, व्याप्तं शुभैर्लक्षणै-
स्तं चेन्मुञ्चति कानने नरपतिस्तुङ्गं महान्तं गजम् ।
अश्वत्थाम्रकपुण्ड्रकेक्षुकदलीरास्वाद्य वंशाङ्कुरा-
न्स्वैरं तस्य मनोरमे विचरतः का नाम हानिर्वने ।।

'विख्यात, सङ्ग्राम में विजय दिलाने वाले शुभ लक्षणों से युक्त, ऊँचे, विशाल हाथी को यदि राजा जङ्गल में हँकवा देता है तो वहाँ उस मनोहर वन में पीपल, आम, गन्ना, कदली और बाँस के अङ्कुरों को आनन्द से खाते हुए और स्वच्छन्दता के साथ घूमते हुए उस हाथी की क्या हानि है'?

[१०७]

विशालं शाल्मल्या नयनसुभगं वीक्ष्य कुसुमं
शुकस्यासीद् बुद्धिः फलमपि भवेदस्य सदृशम् ।
इति ध्यात्वोपास्तं फलमपि च दैवात् परिणतं
विपाके तूलोऽन्तः सपदि मरुता सोऽप्यपहृतः ।।

'तोते ने सेमल के विशाल मनोहारी फूल को देख कर सोचा कि इसका फल भी अवश्य ही इसके अनुसार सुन्दर होगा। ऐसा सोच कर वह उसी के पास बैठा रहा। संयोग से उसमें फल भी लगा और पका। किन्तु उसके भीतर से रुई निकली और उसे भी हवा उड़ा ले गई'।

अनुभव और विवेक से शून्य मनुष्य भी इसी प्रकार बाहरी प्रदर्शन से ठगा जाता है।

[१०८]

अयं[1] वारामेको निलय इति रत्नाकर इति
श्रितोऽस्माभिस्तृष्णातरलितमनोभिर्जलनिधिः ।
क एवं जानीते निजकरपुटीकोटरगतं
क्षणादेनं ताम्यत्तिमिमकरमापास्यति मुनिः ।।

'जल का यह एक मात्र आगार है, रत्नों की खान है—इस प्रकार लालसा से भरे मन से मैंने समुद्र का आश्रय लिया। किन्तु यह कौन जानता था कि मगर-मच्छों से भरे इस समुद्र को एक मुनि क्षण भर में ही अपने चिल्लू में भर कर पी जायेंगे'।

इस संसार में मनुष्य स्त्री, पुत्र, पौत्र और आश्रयदाता स्वामी आदि से उज्ज्वल भविष्य की अनेक कल्पनाएँ कर जैसे ही आनन्दित और पुलकित होता है वैसे ही बहुधा दुर्दैव उसकी कल्पना के आधारों को ही विनष्ट कर देता है।

अथवा "नाम बड़े, दर्शन थोड़े"। रत्नों की तृष्णा में "रत्नाकर" नाम सुन कर आया तो, पर अन्त में ज्ञात हुआ कि अगस्त्य जैसे तेजस्वी के आगे उसकी कोई भी प्रभुता और महत्ता नहीं है।

---

१. यह श्लोक *सुभा०* में मालवरुद्र के नाम से उद्धृत है।

भल्लटशतकपद्यानां वर्णक्रमानुसारिणी सूची

